भाषा-शिक्षण-विधि

(भारतीय छात्राध्यापकों के निमित्त)

[एल. टी., बी. एड., जे. टी. सी., तथा एच. टी. सी. आदि के पाठ्यक्रमानुसार]

लेखक—

'शिक्षा-सिद्धान्त' तथा 'संक्षिप्त शिक्षा-सिद्धान्त आदि उत्कृष्ट पुस्तकों के रचयिता

उमाशंकर श्रीवास्तव

अध्यापक, राजकीय दीक्षालय चुनार,

प्रकाशक—हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय,

पो० बा० नं० ७०

ज्ञानवापी बनारस

प्रथम बार

मूल्य २)

प्रकाशक—
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
पो० बा० नं० ७०
ज्ञानवापी बनारस

मुद्रक—
मेवालाल गु
बम्बईप्रिंटिंग क
बाँस-फाटक, बन

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

भाषा-शिक्षण के उद्देश्य—अर्थ, महत्व, आवश्यकता, भाषा-शिक्षण के प्राचीन (दोषपर्ण) उद्देश्य, प्राचीन भाषा-शिक्षा-विधि, पाठ्यक्रम के दोष।

भाषा-शिक्षण के उचित उद्देश्य साधारण—(१) आत्माभिव्यक्ति, (२) भाव ग्रहण कर सकने की शक्ति का विकास, (३) विशेष (क) भाषा में आकर्षण की क्षमता (ख) माधुर्य (ग) प्रभावोत्पादन की क्षमता (घ) स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रकाशन (ङ) प्रचलित नियमों के अनुकूल शुद्धता १—१४

द्वितीय अध्याय

प्रारम्भिक भाषा—प्रारंभिक भाषा-शिक्षक का उत्तरदायित्व ... १४-१९

तृतीय अध्याय

मौखिक भाषा—भाषा-शिक्षण-विधि का प्रारम्भिक रूप, अनुकरण द्वारा भाषा-शिक्षा, सम्पर्क द्वारा भाषा-शिक्षा, अभ्यास द्वारा भाषा-शिक्षा, भाषा और बालक की इन्द्रियाँ, भाषा के दो अंश, समन्वय का क्रम, अर्थ के दो प्रकार—साकार अर्थ, निराकार अर्थ; मौखिक भाषा-शिक्षण के चार साधन—(१) अनुभव अथवा पूर्वार्जित कार्यज्ञान, (२) पूर्वार्जित शब्द-भण्डार (३) औत्सुक्य समाधान, (४) सक्रियता ... २०—३३

चतुर्थ अध्याय

भाषा शिक्षण में वार्तालापका महत्व—वार्त्तालाप और दैनिक-जीवन, वार्त्तालाप और भाषण, सफल वार्त्तालाप तथा भाषणादि के आवश्यक गुण—(१) स्वाभाविकता (२) गतिशीलता (३) हाव-भाव युक्त होना, (४) श्रोता

और स्थान के अनुकूल होना, (५) स्थिति के अनुकूल होना, ६) सीधी और स्पष्ट होना (७) शब्दों पर आवश्यक बल (८) सत्यता और प्रियता···।

वार्तालाप और भाषण में अन्तर, वार्त्तालाप द्वारा भाषा-शिक्षा के उपाय, मौखिक भाषा-शिक्षण के अन्य साधन—कथा-रचना, चित्रों का अध्ययन, अभिनय, नाटक द्वारा पाठ-बोध, वाद-विवाद प्रतियोगिता, कक्षा-प्रबन्ध-समितियाँ; उच्चारण की शुद्धता और स्पष्टता। ······३३—६०

पंचम अध्याय

वाचन-विकास—वाचन और लेखन, वाचन का महत्व, वाचन और पाठन, वाचन-शिक्षा में नवीन दृष्टि—(१) अभ्यासात्मक से कलात्मक दृष्टि, (२) व्यापकता (३) व्यक्तित्व का विकास (४) प्रोत्साहन (५) विचार की इकाई (६) भिन्न विधियाँ (७) व्यक्तिगत सहायता (८) पुस्तकालय आदि की ओर झुकाव।

वाचन कला के आवश्यक गुण—(१) मौन पठन (२) सस्वर पठन (३) मीमांसा (४) अध्ययन। पढ़ना सीखने का क्रम—प्रथमावस्था, द्वितीयावस्था, तृतीयावस्था, चतुर्थावस्था, पंचमावस्था। सीखने के लिये पढ़ना—(१) तथ्य और प्रसंगादि की खोज के लिये पढ़ना (२) आवश्यकता के अनुकूल विचारों के चुनाव के लिए पढ़ना (३) तथ्यों को सुव्यवस्थित करने के लिए पढ़ना (४) विचार की स्मृति स्थायी बनाने के लिए पढ़ना (५) अध्ययन के लिए पढ़ना (५)

वाचन-शिक्षण की नवीन विधियाँ—(१) देखो और पढ़ो-विधि (२) वाक्य-शिक्षण-विधि (३) अनुकरण-विधि (४) ध्वनि-साम्य-विधि (५) भाषा-शिक्षण-यन्त्र-विधि (६) सामूहिक पठन-विधि (७) साहचर्य-विधि।

प्रारम्भिक पाठन-सामग्री—प्रथम कसौटी। द्वितीय कसौटी···६०—९०

षष्ट अध्याय

लेखन-शिक्षण—लेखन-कला की उत्पत्ति, हमारी लिपि, वर्ण-रचना-शिक्षण, वर्ण-रचना के विभिन्न साधन, निष्कर्ष। ९०—१०४

सप्तम अध्याय

सुवाचन और सुलेखन के कुछ नियम—सुन्दर वाचन, सुलेखन-शिक्षण। १०५—११३

अष्टम अध्याय

रचना-विकास—लिखित रचना की विशेषताएँ और रचना-शिक्षण में उनका ध्यान—(१) लिखित बात का स्थायित्व (२) लिखित रचना के विषय की सीमा (३) विभिन्न प्रकार की रचनाओं के अन्तर का ज्ञान (४) रुचि के अनुकूल साहित्यिक प्रतिभा का विकास (५) मौखिक रचना को शुद्ध तथा क्रमबद्ध करने में सहायता। रचना-शिक्षण में अधिक सावधानी—(१) लिखित शब्दों के स्थानीय मान का अन्तर (२) भावों के अनुसार शब्दों का प्रयोग (३) दोहरे अर्थयुक्त वाक्यों के प्रयोग (४) अस्पष्ट वाक्य (५) शिथिलता (६) जटिलता (७) विभक्तियों के अव्यवस्थित प्रयोग (८) अनावश्यक और निरर्थक शब्दों के प्रयोग (९) क्रियाओं के अनुचित प्रयोग (१०) लोकोक्तियों के भ्रामक प्रयोग (११) विशेषता बतानेवाले शब्दों के अनुचित प्रयोग। (१२) संज्ञाओं के अनुचित प्रयोग।

प्रारम्भिक रचना-शिक्षण-विधियाँ—(१) खेल-प्रणाली (२) प्रश्नोत्तर प्रणाली (३) उद्‌बोधन-प्रणाली।

माध्यमिक रचना-शिक्षण-विधियाँ—(१) सूत्र प्रणाली (२) प्रबोधन-प्रणाली। उच्च रचना-शिक्षण-प्रणालियाँ—(१) मन्त्रणा-प्रणाली, (२) स्वाध्याय प्रणाली (३) अनुकरण-प्रणाली। (४) तर्क-प्रणाली। सुन्दर रचना—(१) विद्यार्थी की रुचि (२) लघुतम घटनाओं को भी उचित महत्व देने की टेव (३) मधु-मक्षिका की तरह ज्ञान-संचय शीलता (४) शब्दों, वाक्यों, लोकोक्तियों आदि को व्यवस्थित तथा प्रभावशाली बनाने का अभ्यास (५) कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव (६) स्वाभाविकता (७) सौष्ठव-पूर्ण आलोचन-प्रत्यालोचन का अभ्यास (८) दूसरों के विचारों को प्रकारान्तर से

व्यक्त कर सकने का अभ्यास (९) देश काल और पाठक के अनुकूल होने का ध्यान (१०) भाषा की प्रकृति के अनुकूल होने का ध्यान (११) सरल भूमिका से कठिन विवेचन की ओर (१२) व्याकरण तथा वाक्य-विन्यास सम्बन्धी भूलों का ध्यान (१३) एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान (१४) सफल वार्त्तालाप तथा भाषणादि सम्बन्धी गुणों का ध्यान (१५) पीछे कही गई रचना-सम्बन्धी भूलों से सतर्कता।

रचना सम्बन्धी अभ्यास का क्रम—(क) अनिवार्य-शिक्षा-काल, (ख) साधारण माध्यमिक शिक्षा-काल (ग) उन्नत माध्यमिक शिक्षा-काल। संशोधन। ११४ १६६

नवम अध्याय

पाठ्यपुस्तक और गद्य-शिक्षा-विधि—पाठ्य-पुस्तक और पाठ्य-क्रम, पाठ्य-पुस्तक निर्धारण की उचित कसौटी, गद्य-शिक्षा के उद्देश्य, गद्य-शिक्षण-विधि—हर्बर्ट के पंच सोपान—(प्रस्तावना, विषय प्रवेश, आत्मीकरण, सिद्धान्त-निर्धारण अथवा आवृत्ति, प्रयोग)। प्रारम्भिक कक्षाओं में गद्य-शिक्षा-मौन पठन, आदर्श पाठ, बोध-परीक्षा के प्रश्न, विस्तृत व्याख्या, आवृत्ति। उच्च कक्षाओं में गद्य शिक्षण। द्रुत पाठ—द्रुत पाठ-शिक्षण के उद्देश्य, द्रुत पाठ की पुस्तकें, कहानी-शिक्षा, कहानी-शिक्षा के उद्देश्य, कहानी शिक्षा के तीन अंग—(कहानी कहना, कहानी कहलाना, कहानी लिखवाना)। द्रुत पाठ की शिक्षा-विधि नाटक-शिक्षा, नाटक-शिक्षा के उद्देश्य, नाटक-शिक्षा-विधि। व्याकरण-शिक्षा—व्याकरण शिक्षा के उद्देश्य, व्याकरण-शिक्षा की आवश्यकता, व्याकरण-शिक्षा के सिद्धान्त, व्याकरण-शिक्षा पद्धति। हिज्जे अथवा स्पेलिंग की शिक्षा, विराम चिह्नों की शिक्षा। १६७—२१८

दशम् अध्याय

पद्य-शिक्षा-विधि—पद्य-शिक्षा के उद्देश्य, पद्य-शिक्षा का क्रम—(१) बालोचित तुक-बन्दियाँ (२) वर्णनात्मक, घटना, प्रधान तथा आदर्श-प्रधान पद्य

(३) मनुष्य-हृदय के वीर, करुणा, दया, मानवता, विश्व-बन्धुत्व आदि भावों से सम्बन्धित कुछ कठिन पद्य, (४) पूर्ण रूप से भाव तथा कल्पना-प्रधान साहित्यिक कविताएँ ५) साहित्य के सर्वाङ्गों से पूर्ण गम्भीर कविताएँ।

पद्य-शिक्षण-प्रणालियाँ—(१) गीत-प्रणाली, (२) अभिनय-प्रणाली, (३) अर्थ-बोध-प्रणाली, (४) व्याख्या-प्रणाली (५) कथा-वाचक-प्रणाली, (६) प्रश्नोत्तर-प्रणाली (७) समीक्षा-प्रणाली। पद्य-शिक्षण-संकेत, कविता की वेश-भूषा, कविता-शिक्षा के अन्य साधन। २१६

एकादश अध्याय

भाषा-शिक्षक से—

द्वादश अध्याय

भाषा-शिक्षण-संकेत—

अपना दृष्टिकोण

'भाषा-शिक्षण-विधि' उन सभी शिक्षा-प्रेमियों अध्यापकों, छात्राध्यापकों, तथा प्राध्यापकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखी गई है जो साधारणतः शिक्षा में और विशेषतः भाषा-शिक्षा में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में रुचि रखते हैं। यद्यपि पुस्तक की रचना साधारणतः हिन्दी के अध्यापकों के आग्रह पर ही हुई, किन्तु सिद्धान्तों, विधियों तथा नियमों की व्याख्या के समय सभी भारतीय भाषाओं पर उनके उचित प्रकार से लागू हो सकने तथा उपयोगिताओं और सीमाओं का ध्यान रक्खा गया है। अक्षर-बोध-विधि, शब्द बोध-विधि, वाक्य-शिक्षण-विधि अथवा रचना, गद्य, पद्, छन्द तथा अलंकार शिक्षण-विधि आदि किसी भी स्थान पर हिन्दी के उदाहरणों के स्थान पर वांछित भारतीय भाषा के उदाहरणों को रख दीजिए—पुस्तक उसी भाषा की शिक्षण-विधि के निमित्त रची हुई प्रतीत होगी।

भारत में प्राचीन काल से प्रचलित भाषा-शिक्षण-विधियों को देखकर कोई भी भाषा-शिक्षानुरागी वही करता जो मैंने किया। दुर्भाग्य की बात है कि हम उस विषय की उचित शिक्षण-विधि पर तनिक भी ध्यान नहीं देते जो अन्य सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम है और जिसके दोषों की व्यापकता अन्य सभी विषयों की शिक्षा को दोष पूर्ण बना देती है। विशेषतः उस समय जब हिन्दी राज-भाषा तथा राष्ट्र-भाषा जैसे महान पदों पर आसीन होने जा रही है, हमें भाषा की समुचित शिक्षण-विधि पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देना चाहिए।

किन्तु स्थिति इसके विपरीत है। भाषा-शिक्षा को अन्य सभी विषयों से कम महत्व दिया जाता है। यहाँ तक कि भाषा-शिक्षक के दीक्षित होने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। अभी कल की बात है जब अन्य विषयों के अध्यापक ७५) मासिक वेतन पाते थे तो भाषा-शिक्षक ४०) मासिक पाता था। वह बेचारा अन्य सभी विषयों के लिए अयोग्य और केवल भाषा के लिए योग्य समझा जाता था। सरकार उसे अब भी 'लैंग्वेज टीचर' कहकर विद्यार्थियों से 'पण्डितजी' कहलवाती है। सरकार अब भी समझती है कि विद्यालयों में हिन्दी पढ़ाने के लिए हिन्दी में बी. ए. या एम. ए. होना पर्य्याप्त या कुछ अधिक ही है। किन्तु यही बात वह अंग्रेजी के विषयों में नहीं समझती। इसमें बी. ए. या एम. ए. कुछ भी होने के पश्चात् दीक्षित (ट्रेण्ड—एल. टी, बी. टी, सी. टी. आदि) होना अनिवार्य है। ऐसा समझने का कारण सम्भवतः यह है कि हिन्दी यहाँ के अध्यापकों की मातृभाषा है। अतएव उस विषय की शिक्षा देने का यथेष्ट ज्ञान उसे (बिना विशेष प्रकार से दीक्षित हुए ही) हो जाता है और विदेशी भाषा होने के कारण अंग्रेजी के विषय में ऐसा समझना उचित नहीं।

कुछ भी हो, यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि बिना दीक्षित हुए कोई अध्यापक उच्च कोटि का भाषा-शिक्षक नहीं हो सकता और न मैं यह कहना चाहता हूं कि दीक्षा देकर हम अनिवार्य रूप से अयोग्य अध्यापक को भी श्रेष्ठ बना दे सकते हैं। मेरा अभिप्राय केवल यह है कि भाषा-शिक्षण में उचित सुधार एवं उन्नति करने के निमित्त भाषा-शिक्षक को भी अनिवार्य रूप से दीक्षित होना चाहिए, केवल पुस्तक-ज्ञान कक्षा में कार्य-कुशल होने के लिए यथेष्ट नहीं है। आज विद्यालयों तथा महा विद्यालयों से पूर्णतः शिक्षित होकर निकलने पर भी हम भाषा के प्रयोग

(वार्तालाप, भाषण, वक्तव्य, लेख तथा विभिन्न प्रकार की रचनाओं आदि) में जो भयंकर भूलें कर रहे हैं उन सबके मूल में हमारे विद्यालयोंके अदीक्षित भाषा-शिक्षक हैं। बी. ए, एम. ए. की कक्षाओं में भले ही हमें पीएच. डी. और डी. लिट. उपाधिधारियों से पढ़वाया जाय, किन्तु जब तक विद्यालयों में हमारी भाषा की जड़ ही सुदृढ़ न होगी तब तक पत्तियों को पानी देने से कोई स्थायी शक्ति न मिलेगी और उस मूल को सुदृढ़ बनाने के निमित्त जब तक भाषा-शिक्षक सम्यक रूप से दीक्षित न होगा तब तक भाषा की उन्नति मृग-तृष्णा ही बनी रहेगी।

यह तो हुई भावी अध्यापकों तथा छात्राध्यापकों की बात, किन्तु हिन्दी भाषा मुख्य रूप से प्रयोग करनेवाला केवल शिक्षक-समुदाय ही तो नहीं है। अब तो सभी अन्य विभागों तार, डाक, रेडियो यातायात तक में हिन्दी की धूम है। हम गला फाड़-फाड़कर कहते हैं कि 'हिन्दी को केवल राज-भाषा या राष्ट्र-भाषा का नाम देने से कुछ न होगा, उसको सभी क्षेत्रों में उचित सम्मान मिलना चाहिए।' किन्तु जो ये प्रचार करते हैं, वे स्वयं यह भी नहीं देखते कि वे कैसी हिन्दी बोलते सुनते, लिखते और पढ़ते हैं। हिन्दी के उत्कर्ष-काल में हमारा यह उत्तरदायित्व है कि हम उसका कोई निश्चित और स्थायी स्वरूप बनायें।

यह कैसे किया जाय-इसके निमित्त भी इस पुस्तक की आवश्यकता थी। यद्यपि इस सम्बन्ध में एकत्रित बहुत सी अनिवार्य रूप से लिखी जाने योग्य सामग्री जल्दी के कारण अभी मेरे पास ही रह गई है जिसे मैंने आगे के संस्करण में व्यवस्थित करने का निश्चय किया है, तथापि मुझे आशा है कि प्रस्तुत सामग्री से भी पाठकों को लाभ अवश्य होगा। इस समय यही यथेष्ट है।

यद्यपि मैंने भाषण या रचना संबन्धी भूलों की चर्चा में किसी

व्यक्ति या संस्था का नाम नहीं दिया है तथापि यदि पाठकों में कोई ऐसे गुरु, मित्र, सहयोगी, छात्र या अन्य कोई सज्जन हों जिनकी भूलों की चर्चा पुस्तक में आ गई हो तो उनसे निवेदन है कि वे उसका यह अर्थ न लगायें कि मैंने उन्हें अपमानित करने के लिए अथवा अपने को उनसे बड़ा विद्वान् सिद्ध करने के लिए ऐसे उदाहरण दिए हैं। मैंने जो कुछ किया है—वह हिन्दी के उत्थान तथा भाषा-शिक्षण-विधि के सुधार और सद्भावना से ही प्रेरित होकर किया है। इसके निमित्त मैं क्षमाप्रार्थी हूं।

भूलें हमसे, आप से अथवा किसी से भी हो सकती हैं और इस पुस्तक के लिखने में भी सिद्धान्त-निर्धारण, विधि-विवेचना, आनुषंगिक प्रयोगों आदि में भूलें हुई होंगी। यह भी हो सकता है कि दूसरों की भूल सुधारने में मैंने स्वयं भी भूल की हो, किन्तु पाठकों से निवेदन है कि इनके पीछे मेरा जो उद्देश्य है उसी को ध्यान में रक्खें। यदि वे कोई सुधार या सुझाव उपस्थित करेंगे तो मैं कृतज्ञता के साथ उनसे लाभ उठाऊँगा। शीघ्रता के कारण छपाई सम्बन्धी अनेक भूलें रह गई हैं। पढ़ते समय उन्हें सुधार कर पाठक मुझे अनुगृहीत करेंगे।

पुनः मैं उन लेखकों तथा विद्वानों से क्षमा चाहता हूं जिनके सिद्धान्तों अथवा विचारों से सहमत न होने के कारण किसी भी रूप में मैंने उनकी आलोचना की है। मैं उनके उन विचारों या सिद्धान्तों आदि द्वारा उपकृत हुआ हूँ, क्योंकि उनसे मुझे इस पुस्तक की रचना में प्रेरणा मिली है।

जहाँ तक सम्भव हुआ मैंने प्रत्येक अवसर पर बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए आवश्यकतानुकूल उदाहरण उपस्थित किया है, तो भी जिन स्थानों पर विस्तार भय से अथवा अति सरल समझ कर ऐसा नहीं किया गया है, उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की

कठिनाई उपस्थित होने पर उनके समाधान के लिए मैं पाठकों का स्वागत करूँगा।

इस पुस्तक की रचना में जिन देशी और विदेशी विद्वानों के लेखों, ग्रन्थों तथा सुझावों से मुझे कुछ भी सहायता मिली है उन सबको मैं धन्यवाद देता हूँ। मैं अपने उन छात्राध्यापकों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपने शिक्षण-संकेतों से इस पुस्तक को पूर्ण बनाने में मेरी सहायता की है। प्रकाशक श्रीकृष्णचन्द्र बेरी विशेष रूप से मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिनके साहित्य-प्रेम ने मुझ जैसे बहु-धन्धी तथा कच्छप-गतिगामी व्यक्ति से भी यह पुस्तक लिखवाकर ही दम लिया।

यदि इस विषय पर अनेक अन्य पुस्तकों के होते हुए भी इस पुस्तक से शिक्षित-समुदाय को अपेक्षाकृत कुछ अधिक सहायता मिल सकी तो मैं अपने उद्देश्यों को सफल समझूँगा।

काशी
सौर १२—सं० २००८

उमाशंकर श्रीवास्तव

भाषा-शिक्षण-विधि

प्रथम अध्याय

भाषा-शिक्षण के उद्देश्य

अर्थ—भाषा संस्कृत, एकवचन, स्त्रीलिंग शब्द है। भारत के सुविख्यात कोषकार श्री रामचन्द्र वर्मा ने भाषा शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है—'मुख से उच्चारित होनेवाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह जिसके द्वारा मन की बात बतलाई जाती है'। मेरी दृष्टि से भी 'भाषा' शब्द का यही अर्थ होना चाहिए।

महत्व—भाषा शब्द का यह अर्थ ही मानव-जीवन में भाषा-शिक्षण का महत्व समझने के लिये यथेष्ट है। यदि मुख से उच्चरित होनेवाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह, जिसके द्वारा मनुष्य अपने हृदय की बात दूसरे पर प्रकट कर सकता है, हमें प्राप्त न होता अर्थात् संक्षेप में यदि भाषा इस संसार में न होती तो हमारी क्या स्थिति होती—इस प्रश्न का उत्तर निरीह पशुओं, पक्षियों तथा कीट-पतंग आदि के दयनीय जीवन-क्रम के निरीक्षण से प्राप्त किया जा सकता है। उसके वर्णन का न यहाँ प्रसंग है और न स्थान। हाँ यदि कोई उस विषय पर अनुसन्धान करना चाहे तो श्री डारविन तथा उनके बन्धु-बान्धवों से उचित सहायता प्राप्त हो सकती है।

आप कहेंगे कि क्या भाषा को यह महत्व केवल इसलिये दिया जाय कि कोषकारों ने कोष में उसका उक्त अर्थ लिख दिया है? नहीं! सच पूछिये तो हमारे जीवन और इस ब्रह्माण्ड के सृजन का

रहस्य ही भाषामय है। यदि आप वेद को अपौरुषेय और संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हों तो आप यह अवश्य जानते होंगे कि 'वेद' शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जानना'। वेद नाम इसलिये दिया गया कि उसमें अथवा उनमें जो कुछ है वह ऋषियों पर एक अदृश्य शक्ति (ईश्वर) द्वारा प्रकट हो गया—वे उसे जान गये। किन्तु यह जानने अथवा प्रकट होने का स्वरूप क्या था ? उस अज्ञात शक्ति ने भाषा के माध्यम द्वारा ही वह ज्ञान-भण्डार उनको दे दिया, जिसको उन्होंने लिपिबद्ध कर लिया हो—किंवा यदि आप नास्तिक हैं तो भी यह निश्चित ही है कि ऋषियों ने भी शब्दों, वाक्य-समूहों अर्थात् भाषा द्वारा ही अपने हृदय और मस्तिष्क की बातों को वेदों में स्पष्ट किया। वाचस्नेय संहिता में वेद को 'कल्याणी वाचा'—कल्याण करनेवाली वाणी अथवा भाषा कहा गया है। (यथेमांवाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः) तात्पर्य केवल यह है कि मानव जीवन की सभ्यता का प्रारम्भ ही भाषा से होता है।

यदि आप केवल 'बाइबिल' या केवल 'कुरान' के माननेवाले हैं तब भी यह निश्चित है कि उनमें उल्लिखित ज्ञान—शब्दों, वाक्य-समूहों आदि (या भाषा) द्वारा ही प्रकट किये गये हैं। यहाँ तक कि आपकी सभ्यता ही नहीं वरन् इस सृष्टि का निर्माण ही भाषा से प्रारम्भ होता है—यथा भगवान् ने कहा 'पृथ्वी हो जाय' पृथ्वी हो गई। 'जल हो जाय' जल हो गया···आदि (बाइबिल—'लेट देअर बी लैण्ड, देअरवाज लैण्ड। लेट देअर बी वाटर···आदि) यह सब भाषा के अतिरिक्त और क्या था ?

इन बातों से यह स्पष्ट है कि भाषा अनादि काल से है और भाषा के द्वारा ही हमने एक दूसरे पर अपने विचार प्रकट करते-करते अपने चारों ओर इस महान् मायामय सृष्टि का सृजन कर डाला है। हमारी सम्पूर्ण सभ्यता और हमारे समस्त सौन्दय तथा सुख-समृद्धि

के साधनों का प्रादुर्भाव भाषा के समुचित आदान-प्रदान से ही सम्भव हो सका।

आवश्यकता—आप कह सकते हैं कि हम बिना बोले, (सिर को नीचे-ऊपर अथवा दायें-बायें हिलाकर और नेत्रों को टेढ़े तिरछे घुमाकर भी तो अनेक) विचारों को प्रकट कर सकते हैं। यह ठीक है, किन्तु यहाँ इस बात पर ध्यान देना होगा कि यदि ऋषि या पैगम्बर आदि हमारे पूर्वज भी इन्हीं शारीरिक संकेतों के सहारे रह जाते तो आज की सभा-समितियों में हमारे नेता रंगमंच पर खड़े होकर 'सिर पैर हिलाते' और हम सभा-मण्डप में बैठकर 'नाक-भौंह सिकोड़ते'। तनिक ध्यान दीजिये उस विचित्र दृश्य पर जो वहाँ दिखाई देता। वे कहते आम, आप सुनते इमली। यह तो केवल आंगिक संकेतों के सहारे रहने से होनेवाले दुर्विपाक का एक आंशिक दृश्य है, शेष दृश्य को सोचकर ही आप मानव-जीवन की तज्जन्य विमूढ़ता की थाह लगा सकेंगे।

भाषा भी एक प्रकार का संकेत ही है, अन्तर केवल इतना है कि यह शारीरिक न होकर ध्वन्यात्मक संकेत है। एक ओर शारीरिक संकेत जहाँ अति सीमित है वहाँ दूसरी ओर ध्वन्यात्मक संकेत सीमा-विहीन हैं। शारीरिक संकेतों द्वारा कुछ इने-गिने भावों का ही स्पष्टीकरण सम्भव है जो मनुष्य को एक सीमित क्षेत्र में ही रहने के लिये बाध्य कर देते हैं। अपने वंशजों के लिये अपने विचारों की अमूल्य निधि विरासत के रूप में छोड़ने की बात तो दूर रही, अपने ही समय के लोगों में भी उन संकेतों द्वारा विचार-विनिमय असम्भव हो जाता। किन्तु ध्वन्यात्मक संकेतों के मौखिक तथा लिपिबद्ध दोनों ही स्वरूपों (अर्थात् भाषा) का कोष इतना वृहत् है और उसकी टकसाल इतनी प्रगतिशील है कि वह अनन्तकाल से कोटि-कोटि मनोभावों को एक

युग के पश्चात् दूसरे युग के मानव-समुदाय तक पहुँचाती रही है और आज भी नित्यप्रति नवीन सुविधाजनक विचारों की सौन्दर्य-पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये अनेक शब्द-संकेतों की सृष्टि करती रहती है। साथ ही भाषा के विकास ने ही मानव-जीवन में इतनी व्यापकता तथा अनेकरूपता का प्रादुर्भाव किया है कि वह एक सीमित क्षेत्र में न रहकर विश्व के किसी कोने में निवास कर सकता है और अपनी भाषा द्वारा वहाँ के निवासियों की भाषा का ज्ञान सरलता-पूर्वक प्राप्त कर जीवन-यापन कर सकता है। क्या इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय जीवन तथा ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान शारीरिक संकेतों द्वारा सम्भव होता? क्या आज के अनुसंधानों, आविष्कारों तथा नवीन मनोवैज्ञानिक विचारों को वह सर्वक्षेत्रीय प्रगति प्राप्त हो सकती जिसके बिना आज का मानव-जीवन असभ्य तथा अपूर्ण होता?

भाषा गूढ़तम विषयों के विस्तृत, किन्तु निराकार ज्ञान को साकार बनाती है; उसकी असीमता को सीमित करती तथा उसके प्रवर्धन परिष्करण तथा परिमार्जन के लिये दो मस्तिष्कों के बीच आवश्यक सम्बन्ध स्थापित करती है और विभिन्न प्रकार के स्थूल उपकरणों द्वारा इतनी निकटता उत्पन्न कर देती है जिससे आज हम एक दूसरे की कठिनाइयों की थाह लगा सकने और उनका निराकरण करने तथा एक दूसरे की सहानुभूति प्राप्त करने में बहुत दूर तक सफल हो गये हैं। महात्मा गान्धी की हत्या भारत में हुई, किन्तु पलक मारते ही विश्व के कोने-कोने में वह दुःखद समाचार पहुँच गया और सभी देशों के झण्डे नत हो गये। यह सब भाषा या उसके संकेतों की ही करामात है वह मौखिक हो या लिखित। शारीरिक या अन्य किसी भी प्रकार के संकेतों द्वारा यह निकटता तथा व्यापकता दस-बीस युगों में भी स्थापित होती या नहीं इसमें सन्देह ही है।

भाषा-शिक्षण के प्राचीन दोषपूर्ण उद्देश्य—भाषा के दो रूप हैं—मौखिक और लिखित। किन्तु हमारी वर्तमान मौखिक अथवा लिखित भाषा जैसी प्राचीन काल में थी वैसी आज नहीं है। हमारे अग्रजों ने अपनी बुद्धि और अध्यवसाय से अपनी आवश्यकता और सुविधा के अनुकूल उसके दोनों रूपों को काट छाँटकर परिष्कृत और परिमार्जित किया। इस प्रकार भाषा की कुछ उन्नति हुई किन्तु इस उन्नति की आवश्यकता का अनुभव उन्हें कैसे हुआ—उन्होंने भाषा का प्रयोग तथा अध्ययन किया। उसमें कुछ कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं; अध्यापन किया, कुछ और कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं। उन्होंने इन कठिनाइयों के निवारणार्थ प्रयत्न किया और एक सीमा तक सफलता भी प्राप्त की। वेदों के पश्चात् संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण ऐसे ही प्रयत्नों के उदाहरण हैं; इस प्रकार भाषा को एक ऐसा व्यवस्थित रूप देने का यत्न किया गया जिससे जनसाधारण को अधिकतम लाभ हो सके, किन्तु भाषा-शिक्षण में जिन उद्देश्यों और विधियों तथा सहायक सामग्रियों का उन्होंने प्रयोग किया उनमें कुछ ऐसी बातें थीं, जिनके कारण बहुत ही कम लोग भाषा के आवश्यक ज्ञान से अवगत हो सके। उत्तरोत्तर भाषा के समुचित विकास और भाषा की शिक्षा पानेवालों की संख्या में कमी होती गई। कालान्तर में इसका कुप्रभाव हमारे देश के अशिक्षितों की एक वृहद् संख्या के रूप में प्रकट हुआ। अपने देश भारत की ८७ प्रतिशत निरक्षर जनता पर दृष्टिपात कीजिये जो भाषा के अनिवार्य ज्ञान के अभाव में अपने हृदय की भावनायें व्यक्त कर सकने में लगभग उतनी ही असमर्थ है जितने वन्य पशु।

भाषा-शिक्षण का काय कम से कम भारत जैसे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आ रहा है। प्राचीन गुरुकुलों से लेकर आज तक के मठों और मन्दिरों की सहस्रों पाठशालाओं को देखिये; वे

भाषा-शिक्षण के बड़े-बड़े केन्द्र रहे हैं। किन्तु इन केन्द्रों ने कितने व्यक्तियों को भाषा का समुचित ज्ञान कराया इसका स्पष्ट प्रमाण आपके सम्मुख आपके देश की अभागी जनता है।

आप यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि 'वे गुरुकुल तो संस्कृत भाषा की शिक्षा देते थे और अब तो हमारी मातृभाषा हिन्दी है, इसलिये अशिक्षितों की उपस्थिति का कारण संस्कृत भाषा-शिक्षण-पद्धति नहीं हो सकती।' किन्तु आपको यह न भूल जाना चाहिये कि गुरुकुलों के उस युग में संस्कृत ही मातृभाषा थी और लम्बे काल तक बनी रही, किन्तु भाषा-शिक्षण के उद्देश्य तथा विधियाँ ही ऐसी थीं जिनसे जनसाधारण भाषा-विकाससम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रहा। इसके अतिरिक्त जो लोग अपने को शिक्षित कहते थे उनमें भाषा का कितना ज्ञान था—इसका स्पष्ट उदाहरण वर्तमान संस्कृत पाठशालाओं से निकला हुआ शिक्षित वर्ग है। संस्कृत भाषा का ज्ञान तो नाममात्र का ही होता है, यह दूसरी बात है कि उन्हें ऋग्वेद अमरकोष अथवा पाणिनी के सभी सूत्र अक्षरशः कण्ठाग्र हों।

संस्कृत-शिक्षण के आदर्शों के विषय में यह सब इसलिये कहा जा रहा है कि हम उन कारणों का अनुसन्धान करें जिनसे भारत विश्व का सबसे पुरातन भाषा-शिक्षण-केन्द्र होने पर भी जन-साधारण को शिक्षित करने में असमर्थ रहा।

आप कहेंगे अशिक्षा का कारण जन-साधारण की दरिद्रता तथा सदियों की पराधीनता है, क्योंकि विदेशी हमें शिक्षित और उन्नत नहीं देखना चाहते थे। यह भी एक कारण है, इतना तो सत्य है। परन्तु यही प्रमुख कारण है इसे मैं अपना दोष दूसरे के ऊपर लादना समझता हूँ, क्योंकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि बख्तियार और

औरंगजेब जैसे कुछ कट्टरपंथियों के सिवाय अन्य शासकों ने साधारणतः यदि शिक्षक अथवा भाषा-शिक्षण को प्रोत्साहित नहीं किया तो उसका विनाश करने का प्रयत्न भी नहीं किया। कुछ बड़ी संस्थायें अवश्य नष्ट हो गयीं, फिर भी इतने शिक्षा-केन्द्र थे कि यदि हमारे शिक्षण के उद्देश्य तथा पद्धतियों में दोष न होते तो हम इतने नीचे कदापि न गिरते।

प्राचीन काल में भाषा की समुचित शिक्षा देने के स्थान पर कण्ठाग्र कराना ही श्रेयस्कर समझा जाता था। ग्रन्थों की बातों को समझना और सुन्दर सम्भाषण की ओर विद्यार्थियों की रुचि पैदा करना भाषा-शिक्षण का उद्देश्य न होकर प्राचीन ग्रन्थों तथा गुरु-वाक्यों को अक्षरशः रट लेना ही शिक्षा की सफलता का द्योतक समझा जाता था। भाषाभिव्यक्ति, प्रयोग-औचित्य तथा व्यक्तित्व को प्राथमिकता न देकर प्रारम्भ से ही शुद्धोच्चारण आदि को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। शूद्रों से आप यह आशा कभी भी न कर सके कि वे संस्कृत भाषा का ठीक उच्चारण कर सकेंगे। इसलिए उन्हें वेद-पाठ से वंचित कर दिया गया था—उन्हें शिक्षा देने में अशुद्ध उच्चारण का भय था और अशुद्ध उच्चारण का पाप कौन लेता!

प्राचीन भाषा-शिक्षा-विधि—संस्कृत भाषा की शिक्षा में व्याकरण पर इतना बल दिया जाता था कि विद्यार्थी का अमूल्य समय प्रायः व्याकरण रटने में ही समाप्त हो जाता था और भाषा पढ़ने का समय आते-आते अधिकांश विद्यार्थी अध्ययन ही समाप्त कर देते थे। दुर्भाग्य से आज तक उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सका। इस प्रकार भाषा-शिक्षा-विधि इतनी अमनोवैज्ञानिक, नीरस और निष्प्रयोजन थी कि जनसाधारण इधर आकर्षित हो ही नहीं सकता था।

कुछ इनेगिने व्यक्ति ही ऐसे थे जो किसी प्रकार मन लगाकर, ऊंची शिक्षा प्राप्त करते थे।

पाठ्यक्रम के दोष—भाषा-शिक्षण पर विशेष ध्यान देने के कारण पाठ्यक्रम में साहित्य-रचना, भाषा-लालित्य, तथा भाषा का जीवनोपयोगी-मनोरंजक रूप न होकर धर्म-शिक्षा पारलौकिक ज्ञान, कर्मवाद-सन्यास, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आदि की शिक्षा का पूर्ण समावेश हुआ जिसका साधारण गार्हस्थ्य-जीवन से कोई सम्बन्ध ही न था। गुरुकुलों से छात्र निकलकर भिन्न २ वादों पर वादाविवाद प्रारम्भ कर देते थे। श्री शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट जैसे विद्वान इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे ग्रन्थों के एक-एक सूत्र को लेकर तोड़-मरोड़ कर अनेक अर्थ लगाकर अपनी-अपनी विद्वत्ता प्रकट करने में सारा समय नष्ट करने लगे। ६०० ई० पू० के लगभग भारतीय दर्शन की ६३ भिन्न-भिन्न धारायें बह चलीं।

ब्राह्मणों के समय में कुछ लोग शिक्षा प्राप्त करने से भी वंचित थे। यद्यपि बौद्धयुग में सभी को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार पुनः प्राप्त हुआ, परन्तु समय के प्रवाह के साथ बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के वादाविवाद और राज्य-सत्ताओं के क्रमशः छिन्न-भिन्न हो जाने से शिक्षा की बची-खुची श्रृंखलायें भी असम्बद्ध होकर टूटती गईं। इसके सिवाय मध्य युग में भी जब लोगों की मातृभाषा संस्कृत न रह गई और साधारण बोलचाल के निमित्त प्रान्तीय भाषायें अत्यधिक व्यवहार में आने लगीं तब भी संस्कृत भाषा की ही शिक्षा प्रचलित थी। अतः संस्कृत भाषा की शिक्षा मृतप्राय होने लगी और धीरे-धीरे भाषा-शिक्षा का वह रूप हो गया जो आज वर्तमान है।

ऊपर वर्णित भाषा-शिक्षण सम्बन्धी दोषों से यह स्पष्ट है कि हमारे तत्सम्बन्धी उद्देश्यों में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। यह तो निर्विवाद है कि सभी भाषाओं की शिक्षा का उद्देश्य एक ही

होना चाहिये, चाहे शिक्षण-विधि में कुछ अन्तर भी हो। यदि भाषा-शिक्षा के उचित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जाय तो अवश्य ही जनसाधारण को पूरा लाभ हो और स्थिति के अनुकूल भाषा के बड़े-बड़े विद्वान् तथा मर्मज्ञ भी अपने आप पैदा होते चलें।

भाषा-शिक्षण के उचित उद्देश्य—साधारण १—आत्माभिव्यक्ति

क—अपने मनोभावों को इच्छानुकूल दूसरों पर वाणी द्वारा स्पष्ट कर सकने की शक्ति का विकास।

ख—अपने विचारों को लिखकर प्रकट करने की क्षमता का विकास। मनुष्य अपने हृदय के आन्तरिक भावों को लिखकर इस प्रकार व्यक्त कर सके जिसके पढ़ने से ठीक वही अर्थ निकाला जा सके जो सचमुच वह चाहता था।

२—भाव ग्रहण कर सकने की शक्ति का विकास—

क—दूसरे की कही हुई बातों को सुनकर उसको ठीक-ठीक समझने की शक्ति पैदा करना।

ख—दूसरे के लिखे हुए विचारों का ठीक-ठीक अर्थ लगा सकने की क्षमता उत्पन्न करना।

विशेष—क—भाषा में आकर्षण की क्षमता।

ख—माधुर्य।

ग—प्रभावोत्पादन की क्षमता।

घ—स्वतन्त्र व्यक्तित्व का प्रकाशन।

ङ—प्रचलित नियमों के अनुकूल शुद्धता।

साधारण उद्देश्य इतने स्पष्ट हैं कि उनके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। विशेष उद्देश्यों को स्वतन्त्र स्थान देने की

आवश्यकता इसलिए है कि मनुष्य भावों के आदान-प्रदान की क्षमता प्राप्त कर लेने मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह इस क्षमता में कुछ विशेषता भी चाहता है। अतएव यदि भाषा-शिक्षण कार्य को मूल उद्देश्यों तक ही सीमित कर दिया जाय तो समाज और साहित्य की उन्नति कुण्ठित हो जायगी और ज्ञानार्जन के इस महान् साधन का विकास रुक जायगा।

भाषा-शिक्षक के समक्ष आज के विद्यार्थी में आत्माभिव्यक्ति तथा दूसरों के भाव ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न कर देनेमात्र का ही प्रश्न नहीं है, वरन् यह समस्या भी है कि उसका विद्यार्थी जिस भाषा का प्रयोग करता है उसमें उक्त विशेष गुण भी उपस्थित हों।

क—आकर्षण की क्षमता—अध्यापक विद्यार्थी से प्रश्न करता है "क्या आज सायंकाल तुम यहाँ रहोगे?" वह उत्तर देता है 'हाँ', या 'जी हाँ', या 'आप जैसा कहें' आदि। किन्तु अध्यापक इन उत्तरों से उतना प्रसन्न नहीं होता जितना 'जो आज्ञा' सुनकर होता है। वर्तमान युग में ही हम ऐसे उत्तरों को अधिक प्रिय मानने लगे हों, यह बात नहीं है। भाषा में हम इस प्रकार के आकर्षण की क्षमता आज से नहीं, अति प्राचीन काल से ही आवश्यक समझते आ रहे हैं।

(संस्कृत)—तिमिरारिः तमो हन्ति, शंका तंकित मानसाः।
'वयं काका' 'वयं काका' इति जल्पसि वायसाः॥

कौवे प्रातःकाल होते ही काँव-काँव क्यों करने लगते हैं? इस प्रश्न का कितना आकर्षक उत्तर दिया गया है—सूर्य भगवान् सम्पूर्ण काले अन्धकार को श्वेत प्रकाश में परिणत कर देते हैं। कौवा डरता है—कहीं उसकी श्यामता भी श्वेत रंग में न बदल जाय। इसलिए प्रातःकाल होते ही "मैं कौवा हूँ", "मैं कौवा हूँ" कहकर अन्धकार से अलग अपना परिचय देता रहता है।

(हिन्दी)—श्याम गौर किमि कहौं बखानी ।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥

राम-लक्ष्मण की सुन्दरता कैसी थी, इस प्रश्न के उत्तर में कवि कह सकता था "उसका वर्णन कर सकना सम्भव नहीं है", किन्तु ऐसा न कह कर उसने उत्तर को कितना आकर्षक बना दिया है "कैसे बताऊँ, जिन नेत्रों ने देखा वे (जिह्वारहित होने के कारण) उसका वर्णन नहीं कर सकते और जिस वाणी द्वारा उसका वर्णन करना चाहता हूँ वह (न देख सकने के कारण) ठीक-ठीक कह सकने में समर्थ नहीं है।"

ख—माधुर्य—गुरुदेव विद्यार्थी की भूल पर कहते हैं "मैं अपना मन्तव्य तुम्हें समझा न सका।" सच बात तो यह थी कि "तुम मेरा मन्तव्य न समझ सके।"

(संस्कृत)—नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरोऽपि जानामि, सदा पादाभि वन्दनम् ॥

लक्ष्मण श्री रामचन्द्र से इतना ही कह सकते थे कि "मुझे सीता जी के कुण्डल की पहिचान नहीं है" किन्तु अपने को नूपुर का दर्शनाभिलाषी बनाकर कितनी मधुरता जोड़ दी है।

हिन्दी—कौशिल्या के यह पूछने पर कि तुम्हारे राज-तिलक का लग्न कब है ? श्री रामचन्द्रजी ने उत्तर दिया—

पिता दीन्ह मोहिं कानन-राजू,
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ॥

इतनी दुःखद घटना का कितना मधुर उत्तर है।

ग—प्रभावोत्पादन की क्षमता—बाबर ने राणा सांगा से होनेवाले भीषण युद्ध में पराजय के लक्षण देखकर कहा "वीरो, क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि इतनी कठिन विजयों के पश्चात् सफ-

लता-प्राप्ति के अन्तिम युद्ध में हम शत्रु से विचलित होकर स्वदेश भाग चलें !" उसके भागते हुए सैनिक भी रण में जूझ गये ।

संस्कृत—सौमित्रिर्वदति विभीषणाय लंकाम्,
देहु त्वं भुवनपतेव विनैव कोषम् ।
इति युक्ते रघुपतिराह वाक्यमेतत,
विक्रीते करिणि किमंकुशे विवादः ॥

लक्ष्मण के यह कहने पर कि लंका का राज्य विभीषण को दे दीजिये, किन्तु राजकोष न दीजिये, श्रीरामचन्द्र कहते हैं "लक्ष्मण ! क्या हाथी बेचकर अंकुश के लिये झगड़ा करना उचित है ?" उन्होंने चुपचाप देना ही स्वीकार कर लिया ।

हिन्दी—रहीम ने चित्रकूट के राजा के पास एक ब्राह्मण को दान के निमित्त भेजते समय लिखा:—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध-नरेश ।
जापर विपदा पड़त है, सो आवत एहि देश ॥

इसके प्रभाव से मुग्ध होकर उसने ब्राह्मण को मुँहमाँगा धन दे दिया ।

घ—स्वतन्त्र व्यक्तित्व का प्रकाशन—भावाभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रयोग करने के कारण व्यक्ति सर्वदा अपने में दूसरों से भिन्न कुछ अनोखापन देखना चाहता है । वह नहीं चाहता कि श्रोता अथवा पाठक यह कहकर रह जायँ कि इनकी भाषा (वक्तृता अथवा वर्णन शैली आदि) अमुक व्यक्ति के समान है । उसे यह सुनना अधिक प्रिय लगता है "ऐसी भाषा अथवा उक्ति किसी अन्य व्यक्ति की नहीं है ।" उसकी इस उत्कट इच्छा का ही फल हमें भिन्न-भिन्न शैलियों तथा उपमाओं और रूपकों आदि की सृष्टि के रूप में अनन्त काल से प्राप्त होता रहा है । एक ने रमणी के नेत्रों की तुलना कमल

से की, तो दूसरे ने खंजन से, तीसरे ने हिरण से और चौथे ने मीन से। पाँचवें ने कहा :—

कंज, खंज, मृग, मीन न हों ही, कविजन वृथा कही।
निशि दिन बरसत नयन हमारे, उपमा सकल बही॥

एक ने कहा—जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥

दूसरे ने कहा—काजल की कोठरी में कैसहू सयानो जाय,
एक लीक काजल की लागि है, पै लागि है॥

इत्यादि।

ङ—प्रचलित नियमों के अनुकूल शुद्धता—उक्त सभी उद्देश्य पूर्ण होने पर भी यदि हमारी भाषा कोई प्रचलित नियमों के विपरीत सिद्ध कर दे अथवा उसमें व्याकरण आदि की कोई अशुद्धि निकाल दे, यथा—"यदि हम कहें घोड़ी अच्छा है" इस पर कोई हँस दे तो हमारे आत्माभिमान को ठेस लगती है। अतएव हम अपनी भाषा में उक्त गुणों की उपस्थिति के साथ ही शुद्धता को भी अनिवार्य महत्व देते हैं।

भाषा-शिक्षण की विधि ऐसी होनी चाहिये जिससे ऊपर के सभी उद्देश्यों की पूर्ति हो सके, किंतु इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति एक ही समय अथवा प्रारम्भ से ही होने लगना सम्भव नहीं है। प्रथमतः विद्यार्थी प्रतिदिन के जीवन में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं तथा होने वाले कृत्यों को अपनी टूटी-फूटी भाषा में किसी प्रकार व्यक्त कर सकने योग्य बनाया जायगा। फिर कथा-वार्ता, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान आदि की बातें समझना प्रारम्भ करेगा और इसी प्रकार क्रमशः वह ऊपर कहे गये भाषासम्बन्धी अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के योग्य बनता जायगा।

इस क्रमिक विकास के दुर्गम पथ को सुगम बनाना ही भाषा-शिक्षक का कार्य है। उसके समक्ष प्रथम समस्या यह उपस्थित होती है कि वह भाषा के किस रूप से अपना कार्य प्रारम्भ करे जिससे विद्यार्थी की भाषा का शीघ्र और वांछित विकास हो सके, अर्थात् उसकी प्रारम्भिक भाषा क्या हो, हम इस समस्या पर अगले पृष्ठों में विचार करेंगे।

द्वितीय अध्याय

प्रारम्भिक भाषा

प्रारम्भिक भाषा की समस्या—प्रारम्भिक भाषा की रूप-रेखा निर्धारित करने से पहिले इस समस्या पर विचार करना आवश्यक है कि प्रारम्भिक भाषा का प्रश्न हमारे सामने आया ही क्यों।

जब अध्यापक शिशु-कक्षा में प्रवेश करता है तो वह अपने को ऐसे अबोध प्राणियों के बीच पाता है जो उसकी भाषा-मर्मज्ञता, वाक्पटुता तथा पाण्डित्य से कोई लाभ नहीं उठा सकते। हाँ, अध्यापक उनसे अवश्य कुछ सीख सकता है। कम से कम इतना तो अवश्य ही सीखेगा कि पैर में चुभे कांटे को निकालने के लिए पथिक को सूई की आवश्यकता है, तलवार से उस कष्ट का निवारण न होगा। उन प्रारम्भिक कक्षा के बालकों के लिए सरल, सुबोध तथा अति साधारण परिचित शब्दों से बने वाक्यों की आवश्यकता है न कि उच्चकोटि की परिष्कृत और परिमार्जित भाषा की। उसे अपनी भाषा को उस स्तर के निकट ले आना पड़ेगा जिसके आस-पास शिशु की घरेलू भाषा का ज्ञान है।

यहाँ विद्यार्थी के लिए भी एक कठिनाई उपस्थित होती है—हमारे शिशु की घरेलू भाषा, स्थानीय भाषा अथवा ग्रामीण भाषा या

जनपद भाषा जिसे कुछ विद्वान् अति सीमित अर्थों में मातृभाषा कहते हैं (जैसे अवधी, भोजपुरी आदि जो स्थानविशेष में बोली जाती हैं) उस भाषा से भिन्न है जिसे हम हिन्दी कहते हैं अथवा जिसे दुर्भाग्य से देश के कुछ विद्वान् खड़ी बोली अथवा नागरी आदि नामों से पुकारते हैं और जिसे प्रान्त की सारी तथा देश की लगभग २३ करोड़ जनता बोलती और समझती है तथा जो अब हमारी राष्ट्र-भाषा, उत्तर प्रदेश की राजभाषा ही नहीं, अपितु उचित अर्थों में हमारी मातृभाषा है।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रारम्भिक भाषा-शिक्षण का कार्य मातृभाषा कही जानेवाली इन्हीं जनपद भाषाओं अथवा ग्रामीण बोलियों से ही लेना उचित है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह शिक्षण-स्वातंत्र्य के भीषण दुरुपयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। इसके फल-स्वरूप एक ही प्रान्त में शिक्षा की दृष्टि से पचास उपप्रान्त बन जायेंगे। सच तो यह है कि प्राचीन काल में दम्भवश संस्कृत भाषा को भाषा-शिक्षण का श्रोत उस समय भी बनाये रह कर, जब कि देश में अनेक प्रान्तीय भाषाओं का विकास हो चुका था, हमने जो हानियाँ उठाई थीं, यह विचार-धारा उसकी प्रतिक्रियामात्र है। पहिले हम उस छोर पर थे अब इस छोर पर आ गये, बीच का रास्ता न लेने की जैसे शपथ खा ली है।

हो सकता है बिहार जैसे प्रान्त में कुछ लोग ऐसे हों जिनकी मातृभाषा बँगला हो। इसलिए प्रान्तीय भाषा के माध्यम से भाषा-शिक्षण का कार्य प्रारम्भ करने में वे किसी कठिनाई का अनुभव करते हों। किन्तु प्रश्न तो प्रायः सब के द्वारा बोली जानेवाली भाषा का है न कि शत-प्रति-शत का। तद्यपि यदि सरकार आवश्यकता समझे तो प्रान्तों का पुनर्विभाजन करे—यह समस्या मेरे विषय से बाहर की है।

स्थानीय भाषाओं के विभिन्न स्वरूप—ऊपर हमने उत्तर प्रदेश की प्रान्तीय भाषा हिन्दी को ही मातृभाषा कहा है; किन्तु फिर भी हम यह अस्वीकार नहीं करते कि संकुचित अर्थों में वह हमारी मातृभाषा नहीं है अर्थात् हमारे अधिकांश घरों में 'हम आम खाते हैं' न कह कर 'हम आम खात हई' या इसी प्रकार की अथवा इनसे मिलती-जुलती किसी अन्य उपभाषा या बोली का प्रयोग करते हैं। परन्तु इन प्रयोगों के आधार पर यदि हम पाठशाला में प्रारम्भिक भाषा-शिक्षण की व्यवस्था करेंगे तो स्थिति यह होगी कि एक ही जिले में एक ही स्तर के कार्य के लिए अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार के शिक्षकों की व्यवस्था करनी पड़ेगी, जिनमें से प्रत्येक इन भिन्न भिन्न बोलियों से अलग-अलग भलीभाँति परिचित हों। उदाहरणार्थ बनारस को ही लीजिए:—

यहाँ कुछ लोग कहते हैं **"एक आम दिहे"** दूसरे कहते हैं **'एक आम दिहल'**, तीसरे कहते हैं **'एक आम दिहली।'** (इसी प्रकार के उदाहरण जनपद भाषाओं से भी लिये जा सकते हैं)

अब प्रश्न यह है कि हम इन तीन बोलियों के निमित्त तीन प्रकार के अध्यापकों और स्कूलों की व्यवस्था करें अथवा सबको **'एक आम दिया'** (हिन्दी) सिखा कर ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करें और शिक्षण-कार्य को सरल तथा धन और शक्ति के अपव्यय से मुक्त करने का प्रबन्ध करें। यह तो स्पष्ट ही है कि हम समाज तथा शिष्टजनों में 'एक आम दिया' का ही व्यवहार करते हैं न कि 'एक आम दिहल' आदि का।

प्रारम्भिक भाषा हिन्दी—कहना केवल यह है कि जो बच्चे घर में 'हम आम खात हईं' आदि बोलते हैं उन्हें 'हम आम खाते हैं' सीखने में और जो 'एक आम दिहली' बोलते हैं उन्हें 'एक आम दिया' सीखने में किसी भीषण कठिनाई का सामना न करना पड़ेगा, क्योंकि

अधिक अन्तर क्रियाओं के प्रयोग में है न कि संज्ञाओं, सर्वनामों तथा विशेषणों के प्रयोग में जिसके फलस्वरूप उक्त बोलियों में से किसी को बोलनेवाला तीनों को समझ लेता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संकुचित अर्थ में समझी जानेवाली, मातृभाषा के विद्यार्थियों को, उचित अर्थ में कही जानेवाली मातृ-भाषा (हिन्दी) की शीघ्र शिक्षा देने में कोई इस प्रकार की बाधा न उत्पन्न होगी जिससे प्रारम्भिक भाषा-शिक्षण के लिए स्थानीय बोलियों को प्रयोग में लाने की आवश्यकता हो। सम्भव है स्थानीय बोलियों में शिक्षा देने से बालक ३० दिन में सीखनेवाली बात २८ दिन में ही सीख ले और इस प्रकार वह प्रतिमास २ दिन की बचत का लाभ उठाये, जैसा कि कुछ विद्वान् सोचने लगे हैं। किन्तु दूसरी ओर उसकी बड़ी हानि होगी यह प्रायः ध्यान में नहीं रखा जाता।

क्या स्थानीय बोलियों तथा जनपद भाषाओं के हिमायती केवल प्रारम्भिक शिक्षाप्राप्त लोगों से यह आशा करते हैं कि वे अपने प्रान्त के उतने ही भूमि भाग में जीवनयापन, कार्य-कलाप तथा व्यवहार आदि करेंगे, उसके बाहर पैर रखने की आवश्यकता उन्हें नहीं पड़ेगी?

साथ ही यह भी निश्चित है कि जो विद्यार्थी प्रारम्भिक शिक्षा के आगे पैर बढ़ायेंगे उन्हें हिन्दी की शिक्षा अवश्य ही प्राप्त करनी होगी, क्योंकि आगे की शिक्षा का माध्यम वही होगी। तो क्या पुनः उन्हें वह समय और श्रम न लगाना पड़ेगा जिससे मुक्त रहने के लिए उन्हें प्रारम्भ में हिन्दी सीखने से वंचित रखा जायगा?

कुछ ऐसे ही विचारकों का कहना है कि यदि प्रारम्भ से ही वह हिन्दी पढ़ने लगेगा तो अत्यन्त निकट के क्षेत्र में रहनेवाले लोगों के सम्पर्क में भाव-विनिमय द्वारा भाषा का ज्ञान बढ़ाने में जो सहा-यता उसे मिलती वह न प्राप्त होगी, क्योंकि निकट के क्षेत्रों में स्थानीय भाषाओं में ही विचारों का आदान-प्रदान होता है न कि हिन्दी में।

२

इसके उत्तर में वे यह भूल जाते हैं कि तत्सम्बन्धी भाव-विनिमय के निमित्त वह प्रतिदिन घर में ही स्थानीय बोली सीखता रहता है। घर की पाठशाला में नित्यप्रति के अभ्यास से उसे स्थानीय बोली सीखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अज्ञात रूप से उसका प्रभाव उसके ऊपर इतना गहरा पड़ता है कि वह जीवन-भर उसे भूल नहीं सकता, वरन् निकट के लोगों तथा घरेलू समस्याओं से सम्बन्धित बातों पर स्वभावतः उसके मुख से उसी भाषा के शब्द निकल पड़ते हैं—यहाँ तो साहित्य का पंडित भी अतिथि के आने पर घर में नौकरानी से कहता है "कहिद बइठैं, आवत हई" किन्तु ड्योढ़ी के बाहर होते ही कहता है "नमस्कार, क्षमा कीजियेगा, बड़ा कष्ट हुआ, मैं स्नान कर रहा था।"

इसके अतिरिक्त हममें से बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो संस्कृत, पाली, अँग्रेजी आदि अनेक अन्य भाषाओं में से भी कोई न कोई भाषा सीखेंगे। किन्तु जब हिन्दी को ही वे कुछ आगे चलकर सीखना प्रारम्भ करेंगे तो अन्य भाषाओं को सीखने में व्यर्थ ही बहुत विलम्ब हो जायगा, क्योंकि किसी भी अन्य भाषा की शिक्षा ग्रहण करने के लिए मातृभाषा (हिन्दी) की जड़ भली प्रकार जम जाना अनिवार्य है न कि स्थानीय बोली की। अतएव यदि हिन्दी की शिक्षा प्रारम्भ से ही न दी जायगी तो समय का महान् अपव्यय होगा।

इसके अतिरिक्त स्थानीय भाषाओं में आज के उचित प्रारम्भिक ज्ञान के निमित्त विविध विषयों की आवश्यकतानुकूल प्रायोगिक शब्द अप्राप्य से हैं। तब आगे की शिक्षा में वह किस प्रकार उचित सहायता पहुंचा सकेगी ? क्या यह नगण्य प्रारम्भिक सुविधा बालक के शब्द-कोष तथा भाषासम्बन्धी कठिनाई को घटाने के स्थान पर बढ़ाएगी नहीं ?

प्रारम्भिक भाषा-शिक्षक का उत्तरदायित्व-

सिद्ध कर देती हैं कि हमें अपने प्रारम्भिक भाषा-शिक्षण का कार्य प्रत्येक अवस्था में हिन्दी से ही करना है। हाँ, वह हिन्दी अत्यन्त सरल, सुबोध, विद्यार्थी के वातावरण से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित, अवस्था और विषय के अधिकाधिक अनुकूल होनी चाहिए। इसी-लिए प्रारम्भिक शिक्षक का कार्य इतना जटिल और अध्यवसाय पूर्ण है।

अध्यापक तो आवश्यक दीक्षा के पश्चात् इस कार्य को सरलता पूर्वक कर लेगा, किन्तु विद्यार्थी के लिए अपनी घरेलू भाषा के अहर्निश के वातावरण से कुछ कर एक छलाँग में बाहर आ जाना सम्भव नहीं है। वह तो धीरे-धीरे ही बाहर पैर रख सकेगा। अतः यदि अध्यापक के प्रश्नों का उत्तर देने में अथवा उससे वार्तालाप करने में घरेलू भाषा तथा हिन्दी का एक विचित्र घुटमेल (खिचड़ी) उपस्थित करे तो घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसकी भावाभिव्यक्ति का यह घुटमेल प्रगतिमूलक होता है। वह आज जहाँ है कल वहाँ से आगे रहेगा। आज जिस वाक्य में चार ऐसी भूलें करता है कल उसमें दो की ही आशा है।

उसके इन टूटे-फूटे उत्तरों (वाक्यों) को अस्वीकार न करके क्रमशः आवश्यक सुधारों की संख्या बढ़ाते रह कर स्वीकार कर लेना ही श्रेष्ठ है। उत्तरोत्तर स्थिति में अपने आप परिवर्तन होता रहेगा।

प्रारम्भिक शिक्षा के इस कार्य की महत्ता ने ही हमारे शिक्षा-धिकारियों को प्रारम्भिक अध्यापकों की आवश्यक दीक्षा की समस्या सुलझाने के लिए इतना चिन्तित और सचेष्ट बना दिया है। वे यह भली प्रकार जनते हैं कि यदि शिशु कक्षा के अध्यापक प्रारम्भिक शिक्षण कार्य के विधि-विशेषज्ञ न हुए तो यह कार्य उचित प्रगति के साथ कदापि न हो सकेगा और चूँकि सभी प्रकार के प्रारम्भिक शिक्षण का कार्यभाषा-शिक्षण पर ही विशेष रूप से अवलम्बित है इस

लिए अध्यापक का उत्तरदायित्व भाषा-शिक्षण की ओर और भी अधिक हो जाता है।

यह तो हुई प्रारम्भिक कक्षाओं की बात। अब माध्यमिक कक्षाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में भाषा के माध्यम के विषय में कुछ कहना शेष ही नहीं रहता, क्योंकि वहाँ तो हिन्दी का अकण्टक राज्य होगा ही। स्थानीय बोलियाँ और जनपद भाषाएँ जब प्रारम्भिक शिक्षा की ही आवश्यकता पूरी कर सकने में समर्थ नहीं हैं तो माध्यमिक शिक्षा में उनकी दाल किस प्रकार गलेगी। रही उच्च शिक्षा की बात उसके सम्बन्ध में हम अन्यत्र चर्चा करेंगे।

तृतीय अध्याय

मौखिक भाषा

भाषा के दो रूप हैं।

१—बोलचाल की भाषा अथवा मौखिक भाषा।

२—लिपिबद्ध भाषा अथवा लिखित भाषा।

इसी दृष्टिसे भाषा-शिक्षक को भी इन दोनों रूपों की शिक्षा देने के लिये दो भिन्न विधियों का सहारा लेना पड़ेगा। चूँकि मौखिक भाषा हम प्राकृतिक रूप से पहले प्रारम्भ करते हैं अतएव उचित यही है कि प्रथमतः हम उसी की चर्चा करें। लिखित भाषा का विकास तो मौखिक भाषा द्वारा व्यक्त किये गये ज्ञान कोष को आगे की पीढ़ियों के निमित्त सुरक्षित रखने की दृष्टि से तथा अप्रत्यक्ष व्यक्ति तक संदेशादि के रूप में भेज देने के लिये ही हुआ। इसलिये यदि लिखित भाषा को हम मौखिक भाषा की संदेश-वाहिका अथवा दूती कहें तो अत्युक्ति न होगी। तात्पर्य यह है कि भावाभिव्यक्ति के लिये सर्वोत्कृष्ट साधनों में मौखिक भाषा का स्थान सर्वप्रथम है।

भाषा-शिक्षण विधि का प्रारम्भिक स्वरूप—अब हमारे सामने यह प्रश्न है कि मौखिक भाषा की प्रारम्भिक शिक्षा किन विधियों द्वारा सरलतापूर्वक दी जा सकती है जिससे बालक के भाषासम्बन्धी विकास में यथोचित सहायता प्राप्त हो सके। इसका उत्तर प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले इस बात का अनुसन्धान करें कि विद्यार्थी भाषा सीखने के कार्य में स्वयं किन साधनों द्वारा आगे बढ़ता है।

नित्य के अनुभव तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों द्वारा इस प्रश्न का उत्तर केवल तीन शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है १—सम्पर्क, २—अनुकरण और ३—अभ्यास।

सम्पर्क द्वारा भाषा-शिक्षा—बालक की भाषा-शिक्षण की प्रथम पाठशाला घर है और पहली सीढ़ी नित्य-प्रति के प्रयोग में आनेवाले लोगों तथा दैनिक जीवन की वस्तुओं का सम्पर्क। पहले वह घर में माता-पिता, बन्धु-बान्धव तथा पास-पड़ोस में प्रतिदिन मिलने वालों के सम्पर्क में आता है और उनके प्रयोग में आनेवाली भाषा को सुनता रहता है। न बोल सकने की अवस्था में भी वह अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता रहता है। उस समय न हमको ज्ञान रहता है कि हम उसे भाषा (बोलने) की शिक्षा दे रहे हैं और न उसे यह समझने की शक्ति होती है कि वह भाषा की शिक्षा प्राप्त कर रहा है किन्तु यह सीखने और सिखाने का व्यापार स्वाभाविक रूप से क्रमशः चलता रहता है। वह न कोई परीक्षा देता है और न उसके लिये परिश्रम करता है पर एक समय आता है जब हम उसके मुख से पानी को 'मम' और रोटी को 'ओती' सुनने लगते हैं और धीरे-धीरे वह 'मम पीईं' 'ओतीकाईं' कहते कहते अन्त में शुद्ध और स्पष्ट रूप में 'पानी पीएं' और 'रोटी खायें' आदि का उच्चारण करने लगते हैं।

हमें अंग्रेजी भाषा सीखने में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती है

और अत्यधिक अभ्यास के पश्चात् भी हम अंग्रेजी के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते परन्तु अंग्रेजी का ५ वर्ष का बालक इतना शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करता है कि हम स्तम्भित हुए बिना नहीं रहते। अंग्रेजी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय हो गई है परन्तु हर एक देश में उसके उच्चारण भिन्न-भिन्न होते हैं। इसका मुख्य कारण सम्पर्क ही है। बच्चे के सामने जिस प्रकार की भाषा जिस ध्वनि (टोन) में बोली जायगी ठीक उसी प्रकार का उच्चारण वह भी करेगा। यदि भारतीय बच्चे को भी अंग्रेजों के सम्पर्क में रक्खा जाय तो उसका भी उच्चारण लगभग उसी प्रकार का हो जायगा। बच्चे का मस्तिष्क कोरे कागज की तरह होता है। उसपर जो कुछ भी इस सम्पर्क के कारण लिख जाता है वह अमिट हो जाता है। अतः माता पिता और शिक्षक को इस बात का सबसे अधिक ध्यान होना चाहिये कि बच्चा बुरे सम्पर्क में न आने पावे तथा उसका वातावरण ऐसा शुद्ध हो कि वह इस समय अच्छी से अच्छी बात सीख जाय।

अनुकरण द्वारा भाषा-शिक्षण—बालक में स्वाभाविक रूप से अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। यदि पिता नित्य-प्रति स्कूल या कार्यालय जाते समय जूता पहनता है और टोपी लगाता है तो बालक बार-बार इस क्रिया को ध्यानपूर्वक देखता है। वह माता-पिता के बीच होने वाले संवाद 'जूता लाओ, टोपी लाओ' आदि सुनता है और धीरे धीरे उसे समझने का प्रयास करता है। 'जूता लाओ' कहने पर माता क्या करती है और 'जूता पहिनिये' कहने पर पिता क्या करता है इन बातों का उनकी क्रियाओं से क्या संबन्ध है इसका यथेष्ट अध्ययन करने के पश्चात् पिता के उतारे हुए जूते को पैर में डालकर और टोपी को सिर पर रखकर वह भी स्कूल जाने का उपक्रम करने लगता है। इस एक ही कार्य की अनुकृति से वह अनेक बातें सीख जाता है—यथा—

१—यह जूता है।

२—यह टोपी है।

३—जूता पैर में पहना जाता है।

४—टोपी सिर पर पहनी जाती है।

५—इसमें पैर डालने को जूता पहिनना कहते हैं।

६—इसको सिर पर रखने को टोपी पहिनना या लगाना कहते हैं।

७—इनको पहिन कर स्कूल जाना चाहिये, आदि।

इस प्रकार सीखते रहने का क्रम तीव्र गति से आगे बढ़ता है। माता-पिता या अन्य लोगों के लिये यह समझ सकना कठिन है कि बालक उनके अथवा किसी अन्य व्यक्ति के किस कृत्य का किस समय अनुकरण करने लगेगा। किन्तु मनोविज्ञान का विद्यार्थी अच्छी प्रकार जानता है कि वह अपने निकट होनेवाले किसी भी ऐसे व्यापार का अनुकरण किये बिना नहीं रहेगा, जिससे उसके हृदय में कुतूहल होता है अथवा जो उसे प्रिय लगता है। यही कारण है कि आज के शिक्षक को बालक की प्रारम्भिक शिक्षा-विधि का ज्ञान कराते समय इस बात पर बारंबार संकेत किया जाता है कि कक्षा में उपस्थित किये गये विषय की ओर बालक की अभिरुचि और उसके कुतूहल को जागृत करते रहना उसका प्रथम कर्त्तव्य है और इसके साथ ही उसे जो कुछ सिखाया जाय यथासम्भव कार्य द्वारा सिखाया जाय, क्योंकि बालकों के लिये कार्यानुकरण सबसे सरल होता है और इससे वे अनुभव द्वारा रुचि के साथ सीख सकते हैं। उनके सामने वक्तता देना भैंस के आगे वीणा बजाना है।

अनुकरण में ज्ञानेन्द्रियों को सक्रिय रखने के अतिरिक्त उसकी जन्मना रचनात्मक प्रवृत्ति का भी ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। यह प्रवृत्ति उस काल की शिक्षा का प्रमुख साधन है। इस प्रकार

अनुकरण शिक्षा कार्य में बालकों का मनोरंजन करने में पूर्ण सफल होता है। अनुकरण द्वारा हमारे अति गम्भीर विषय भी उसके लिये खेल बन जाते हैं। बालक स्वभावतः प्रिय और रुचिकर बातों का ही अनुकरण करता है अप्रिय का त्याग करता रहता है।

क्रमशः उसके अनुकरण का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है और जिस किसी घटना, दृश्य या काय का उसके हृदय पर प्रभाव पड़ता है उसका अनुकरण वह साथ खेलनेवाले बालकों में करने का प्रयत्न करता है, भले ही वह अपने अनुभव पूर्ण रूप से व्यक्त न कर सके। इस प्रकार बालक के अनुकरण का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है और कार्यानुकरण के बाद भावानुकरण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है और धीरे-धीरे आदर्शानुकरण द्वारा सच्चरित्र युवक होकर देश का कर्णधार बन जाता है।

मेरे पड़ोसी का एक छोटा बालक जिसकी आयु ३-४ वर्ष के लगभग थी, एक दिन हठपूर्वक हम लोगों के साथ रामलीला नाटक देखने गया। उस दिन नाटक में बालि-सुग्रीव का युद्ध दिखाया गया। युद्ध के दृश्य को बालक बड़े ही ध्यानपूर्वक देखता रहा। यह ध्यान देने की बात है कि रात्रि में ७, ८ बजे तक वह अवश्य सो जाता था। किन्तु उस रात्रि में ११ बजे तक जँभाई भी न ली। अत्र-तत्र भावों में अति तन्मय हो जाने के कारण वह एकटक देखता रहा। कभी-कभी बीच ही में अनेक प्रश्न भी पूछता और यथासम्भव अपनी जिज्ञासा की तुष्टि करने का प्रयत्न करता। निकट बैठे कुछ लोग कभी चिढ़ भी जाते क्योंकि उनकी दृष्टि में यह सब व्यर्थ की बकवास थी जिससे उनके आनन्द में विघ्न पड़ता था। किन्तु अपने एक भी प्रश्न की उत्तर अप्राप्य रहने पर बालक के आनन्द में कितना विघ्न होता था यह वे कभी न सोचते।

बालि की गदा को देखकर "यह क्या है ?" सुग्रीव को पैतरा फेरते देखकर "यह दौड़ता क्यों है ?" बालि के धराशायी हो जाने पर "वह सोया क्यों है ?" तारा के विलाप करने पर "उसकी अम्मा रोती क्यों है" आदि प्रश्न पूछता रहता था। प्रायः ऐसे सभी प्रश्नों के उत्तर उसे दिये गए। लौटने के समय वह गम्भीर दिखाई देता था।

एक सप्ताह के उपरान्त निकट के कई बालकों के बीच वह उस दिन के देखे हुए कार्यों का अनुकरण करता हुआ पाया गया। मुँह को समाचार-पत्र के एक बड़े टुकड़े से ढँक लिया था जिसमें नेत्रों के सामने दो बड़े छिद्र थे। बायाँ हाथ मुँह पर उस कागज को सँभालने में लगा था और दाहिने हाथ में वह लकड़ी का एक लगभग डेढ़ फीट लम्बा टुकड़ा इधर उधर घुमाता जा रहा था। लकड़ी के सिरे पर फटे कपड़ों को गोलाई में बाँध दिया था। ऐसे ही वेष तथा इसी प्रकार के आयुध से युक्त एक अन्य बालक के सामने पैतरे जैसी दौड़ के साथ वह युद्ध का अभिनय करता हुआ देखा गया।

लोग इस अभिनय पर आश्चर्य प्रकट करने लगे—उसके अपने द्वारा किये गये कार्य पर कम उसके कार्य संचालन के फलस्वरूप होनेवाले अभिनय पर अधिक—क्योंकि खेल में भाग लेनेवाले जिन बालकों ने यह नाटक नहीं देखा था उनका वह आवश्यकतानुकूल पथप्रदर्शन करता रहता था—यथा "हम सुग्रीव हैं; तुम बालि हो; तुम अपनी गदा से मेरी गदा पर मारोगे; जब मैं तुम्हें अपनी गदा से मारूँगा तब तुम गिर जाओगे" आदि टूटे-फूटे वाक्यों में समझा देता था।

सारांश यह है कि तन्मयता के कारण बालक ने उस ज्ञान को कितनी गहराई तक हृदय में स्थान दिया और उत्तर में प्राप्त उन शब्दों, नामों तथा क्रियाओंकी उसके मस्तिष्क में कितनी गहरी छाप पड़ी कि अपने भावों को दूसरों पर व्यक्त करने के लिए उसने स्वतंत्र

रूप से वाक्यों का निर्माण किया और सफल हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनुकरण द्वारा भाषा सीखने की इच्छा बाल्यकाल्य में अत्यन्न तीव्र होती है।

अभ्यास द्वारा भाषा-शिक्षा—सहवासियों के नित्य के सम्पर्क यथा अपनी अनुकरण प्रवृत्ति द्वारा जितनी भाषा का ज्ञान बालक को एक बार हो जाता है भविष्य में आवश्यकतानुकूल उसके प्रयोग का रास्ता खुल जाता है, किन्तु यदि उसे उस सीखी हुई भाषा के अभ्यास का उचित अवसर न मिला तो कुछ ही समय बीतने के पश्चात् उसका वह ज्ञान भी लुप्त होने लगेगा।

प्रायः देखा जाता है कि बालक सप्ताह में कभी कभी आनेवाले सम्बन्धी की आकृति से ही नहीं उसकी बात-चीत के ढंग तथा उसके शब्दों की ध्वनि से भी इतना परिचित हो जाता है कि यदि दृष्टि से परे रहने पर भी उसे बातें करते सुन ले तो सरलतापूर्वक पहिचान लेता है और बिना देखे ही फूफा अथवा मामा आदि का सम्बोधन करके दौड़ पड़ता है। यह भाषा सुनने के अप्रत्यक्ष अभ्यास का उदाहरण है।

एक प्रसिद्ध थियासफिस्ट जो जाति के फ्रांसीसी हैं, जिनकी स्त्री मद्रास के एक सुशिक्षित ब्राह्मण परिवार की है, सन् १९४६–४७ की महासभा (कन्वेंशन) में काशी आए। उनके साथ उनका ३–४ वर्ष का बालक अर्जुन भी था जिसे विशुद्ध अंग्रेजी में बात करते सुनकर सोसाइटी के स्कूल तथा कालेज के छात्र और बहुत से बाहरी दर्शक दाँतों तले अँगुली दबाते थे। उन्हें अधिक आश्चर्य यह जानकर हुआ कि वह दम्पति भारतवर्ष में ही एक कालेज में अध्यापन का कार्य करते हैं और उनके पड़ोसी ९८ प्रतिशत भारतीय हैं। अनुसन्धान करने पर विदित हुआ कि बालक पड़ोसियों के सम्पर्क में बहुत आ सका था, केवल वह उनके कुछ शब्द-संकेत समझता

था, उनकी भाषा टूटे फूटे रूप में भी बोल नहीं पाता था। बच्चे के सामने माता-पिता अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा न बोलते थे। सम्बन्धियों की उपस्थिति में कभी कभी माता को मद्रासी भाषा बोलते सुनकर वह अनेक प्रश्न (अंग्रेजी में ही) पूछने लगता था। किन्तु एक ओर सुनकर अभ्यास करने का अवसर न प्राप्त होने के कारण वह उन स्थानीय बोलियों में से किसी को न बोल सका और दूसरी ओर अंग्रेजी भाषा के अभ्यास (सुनने तथा बोलने) का वातावरण लगातार बने रहने के कारण अंग्रेजी ही उसकी मातृ-भाषा बन गई।

पाँच वर्ष की अवस्था में स्कूल जाना प्रारम्भ करने के पश्चात् बाहरी विद्यार्थियों के साथ नित्य के अभ्यास से वह दो वर्षों के भीतर ही मद्रासी बोली में अपने विचार व्यक्त करने में भी सफल हो गया।

इसी प्रकार काशी में बंगालीटोला के कितने ही परिवारों के बच्चे, जिनकी मातृभाषा भोजपुरी है, अपने विचार हिन्दी न जानने वाली बंगाली वृद्धाओं से सफलतापूर्वक बंगला में व्यक्त करते हुए पाए जाते हैं। यह केवल अभ्यास का ही फल है। यहाँ तक कि लम्बे समय तक मातृभाषा के अतिरिक्त भाषावाले वातावरण में रहने और उस भाषा के नित्यप्रति के अभ्यास के कारण मातृभाषा भी कुछ अंशों में भूलने लग जाती है। युक्तप्रान्त में रहनेवाले अनेक मद्रासी तथा पंजाबी स्त्री पुरुष जो बालकपन में ही किसी कारण परिवार से अलग होकर यहाँ आ गये, और जिनको हिन्दी भाषा का अभ्यास करते बीस पचीस वर्ष बीत गये वे अब अपनी मातृभाषा भी अशुद्ध और अस्पष्ट बोलने लगे हैं।

अब तक भाषा-शिक्षण के सम्बन्ध में, सम्पर्क, अनुकरण और अभ्यास के कारण प्राप्त होनेवाले फल का जो स्पष्टीकरण किया गया

उससे यह निश्चित हो जाता है कि हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम विद्यार्थी को जिस भाषा का ज्ञान प्रारम्भ से ही कराना चाहते हैं उसी भाषा के बोलनेवालों के सम्पर्क में उसे रक्खें; उसी भाषा में होनेवाले कार्यों के अनुकरण का उसे अवसर दें तथा उसी भाषा का सतत अभ्यास होने देने की परिस्थिति उत्पन्न करें तो अवश्य ही उसकी भाषा सीखने की गति तीव्र होगी और साथ ही यदि उक्त तीनों अवस्थाओं में भाषा का वातावरण उत्कृष्ट कोटि का रहे और लचर अशुद्ध शब्दों के प्रयोग से दूर रक्खा जाय तो बालक की भाषा उसी सीमा तक उत्कृष्ट और मँजी हुई होगी।

यद्यपि मनोविज्ञान की दृष्टि से बालक की उपरोक्त सारी बातें अनुकरण प्रवृत्ति के भीतर ही आ जाती हैं किन्तु उसके तीनों रूपों को अलग-अलग समझने की आवश्यकता इसलिए है कि इनमें से किसी एक की भी कमी हो जाने पर उस प्रवृत्ति का कार्य दुर्बल ही नहीं अपूर्ण भी रह जायगा।

भाषा और बालक की इन्द्रियाँ—भाषा सीखने के जिस स्वाभाविक क्रम की चर्चा ऊपर की गई है वह मस्तिष्क के अतिरिक्त प्रधानतः उसके श्रवणेन्द्रिय, चक्षु तथा हाथों की सक्रियता पर ही अवलम्बित है। इनमें भी श्रवणेन्द्रिय का स्थान मुख्यतम है क्योंकि नेत्रविहीन तथा कर रहित बालक को भी श्रवणेन्द्रिय की सतत सतर्कता के फलस्वरूप भाषा-ज्ञान हो जाता है। एक अन्धा और लूला बालक न रोटी को देख सकता है और न उसे हाथ से छूकर उसके आकार या घनत्व का अनुभव ही कर सकता है, किन्तु भूखा होने के कारण उसे रोटी खिलाते समय हमारे 'रोटी खाओ' के नित्य के प्रयोग से उसके कान उसके मस्तिष्क को अभ्यस्त करा देते हैं कि रोटी खाओ का अमुक अर्थ होता है और वह बिना प्रयास किये ही कालान्तर में दूसरे बच्चे का रोना सुनकर 'रोटी खाओ'

कहने लग जाता है। तात्पर्य यह कि वह भाषा-ज्ञान प्राप्त करने में सफल हो जाता है, यद्यपि उसे यह सफलता दीर्घ काल में तथा बड़ी मन्द गति से प्राप्त होती है क्योंकि नेत्रों और हाथों की सक्रियता से भाषा सीखने में जो सुविधा उसे सहज प्राप्त होती उसका अभाव रहता है।

किन्तु यदि बालक जन्म से ही बहरा हो तो वह भाषा-ज्ञान न कर सकेगा भले ही उसके नेत्र और हाथ यथेष्ट शक्तिवान और सक्रिय हों। इसका कारण यह है कि भाषा के आधार शब्द (ध्वनियाँ) हैं और शब्दों का बोध सुने बिना नहीं हो सकता। जन्म से बधिर होने के कारण ही बच्चा गूँगा हो जाता है।

भाषा के दो अंग—भाषा को हम दो अंगों में विभाजित कर सकते हैं—शब्द और अर्थ।

शब्द—गुण, दशा, वस्तु और व्यापार अथवा क्रिया का परिचय हम भाषा के जिस साधन से प्राप्त करते हैं उसे शब्द कहते हैं। निरर्थक ध्वनियों को भी शब्द की संज्ञा दी जाती है, किन्तु भाषा में उनका कोई स्थान नहीं है।

अर्थ—इन शब्दों के आपस के सम्बन्ध से हम जो कुछ परिचय प्राप्त करते हैं वह अर्थ कहलाता है।

भाषा का सम्बन्ध शब्द और अर्थ से उसी प्रकार का है जैसा प्राणी का प्राण और शरीर से। भाषा शब्दों की अनुपस्थिति में अपना अस्तित्व खो देगी, ठीक उसी प्रकार जैसे प्राणी प्राण की अनुपस्थिति में। शब्द भी अर्थों की अनुपस्थिति में वैसे ही व्यर्थ हो जायेंगे जैसे शरीर की अनुपस्थिति में प्राण, क्योंकि हम उस प्राण का परिचय शरीर द्वारा ही प्राप्त करते हैं जैसे शब्द का परिचय अर्थ द्वारा। यह दूसरी बात है कि हम क्रमशः सयाने होने पर अनेक

शब्द बिना अर्थ समझे ही रट लेते हैं और पीछे उनके अर्थ से सामीप्य प्राप्त करते हैं, किन्तु बालक तो अर्थ समझे बिना कोई शब्द सरलतापूर्वक नहीं सीख सकता। 'गाय रँभाती है' सुनकर कहना वह स्वयं तभी सीख सकता है जब गाय को और उसके रँभाने की क्रिया को वह देख ले अथवा (नेत्र की अनुपस्थिति में) 'रोटी खाओ' सुन कर वैसा कहना सरलतापूर्वक तभी सीख सकता है जब रोटी खाने का कार्य स्वयं कर ले। तात्पर्य यह कि अर्थ का शब्दों से सम्बन्ध स्थापित करके ही वह स्वयं भाषा सीखता है—बलपूर्वक हम उसे वेद का कोई मंत्र भी रटा दें तो वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सीखना नहीं कहा जायगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बालक शब्द और अर्थ का एकीकरण कर लेने के पश्चात् ही भाषा सीखता है।

शब्द और अर्थ का समन्वय इस एकीकरण के भी तीन रूप हैं—अनुभव, इच्छा अथवा आवश्यकता और अनुसन्धान। अनुभव द्वारा एकीकरण करने की गति पूर्वार्जित भाषा-ज्ञान परनिर्भर करती है। अन्य लोगों द्वारा बोले गये शब्दों और किये गये कार्यों के सम्बन्ध से वह जो कुछ सीखता है उसका प्रयोग उसी प्रकार की स्थिति उपस्थित होने पर वह भी करता रहता है। अपनी आवश्यकता अथवा इच्छा से शब्द और अर्थ का एकीकरण वह किस प्रकार करता है, इसका उदाहरण यह है—मान लिया जाय कि वह बाजा शब्द से अपरिचित है, विवाहादि के अवसर पर बाजा बजते हुए सुनता है, उसकी ध्वनि के अनुकूल वह उसे 'घम-घम' या 'झम-झम' आदि की संज्ञा देता है और उसके निकट जाना चाहता है। किन्तु आवश्यकता के अनुकूल अपना मन्तव्य हमको नहीं समझा पाता। उस अवस्था में हम उसकी इच्छा जानने

के प्रयास में जब बाजा शब्द का संकेत करते हैं तो वह 'बाजा' कहना सीख जाता है।

तीसरी स्थिति अनुसंधान की है—बालक चूना समझता है और हल्दी पहिचानता है। एक दिन खेल खेल में वह हल्दी के विचूर्ण को घुले हुए चूने में डाल देता है और लाल रंग देखकर स्तम्भित हो जाता है। फिर वह प्रसन्न होकर अपनी खोज का फल हमारे समक्ष उपस्थित करता है और हमारे यह कहने पर कि "हल्दी और चूने के मिलाने से लाल रंग पैदा है" 'मिलाना, लाल रंग, पैदा होना आदि' शब्द सीख जाता है।

समन्वय का क्रम—शब्द और अर्थ के इस समन्वय अथवा भाषा सीखने के इस क्रम में पहिले शब्द पीछे वाक्य खण्ड और अन्त में पूर्ण वाक्य और उसके अर्थ से उसका तादात्म्य होता है—पहले वह 'गन्ना' शब्द सीखता है फिर उसके रस से उसका सम्बन्ध स्थापित होने पर 'गन्ने का रस' वाक्य-खण्ड से उसका परिचय होता है और तत्पश्चात् उसे पी लेने पर "गन्ने का रस मीठा होता है" वाक्य और तात्पर्य से उसका साक्षात्कार होता है। रस निकाले जाने का कार्य देखने के क्रम में वह कोल्हू और बैल आदि अन्य शब्द भी सीखता है और उनके द्वारा होने वाले कार्य को अन्तःकरण में बैठा लेने के पश्चात् धीरे-धीरे उनके विषय में भी वाक्य-खण्ड और पूर्ण वाक्य का प्रयोग करने लगता है, यथा—'कोल्हू का बैल' और 'बैल कोल्हू खींचता है, आदि।'

अर्थ के दो प्रकार—अर्थ दो प्रकार का होता है–साकार अथवा ठोस और निराकार अथवा अदृश्य। यथा—

साकार अर्थ—राम रोटी खाता है—यहाँ बालक राम को देखता है, रोटी को देखता है और हाथ से उठाकर उसे मुँह में डालते

देखता है। राम रोटी और कार्य इन तीनों के प्रत्यक्ष दर्शन से वह खाता है का अर्थ समझता है और यही अर्थ उसे स्थायी रूप से भाषा का ज्ञान देता है। यही कारण है जिससे आज के शिक्षाशास्त्री वक्तव्य न देकर बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा अथवा स्वयं कुछ करने में लीन रखकर या अध्यापक द्वारा कुछ किये जाते दिखाकर शिक्षा देना आवश्यक समझने लगे हैं। वक्तव्य द्वारा सीखी हुई बात वह कल ही भूल जा सकता है किन्तु कार्य द्वारा सीखी गई बात उसे प्रायः जीवन भर नहीं भूलती।

निराकार अर्थ—'भगवान सब पर कृपा करता है' यह वाक्य उसे गद्य या पद्य में रटा दिया जा सकता है किन्तु इसका अर्थ अवस्था बढ़ने पर ही वह समझ सकेगा। उसका भगवान और कृपा शब्दों के ठोस रूप या किये जाने वाले कार्य से प्रत्यक्ष साक्षात्कार न होने से उसे वह ज्ञान और वह वाक्य अनिच्छापूर्वक स्मरण रखना पड़ता है जिसे वह बाल्य काल में भूल जाता है।

अतएव प्रारम्भिक शिक्षण में ऐसे ही शब्दों, वाक्य-खण्डों और वाक्यों का अर्थ उसे समझाने का प्रयास करना चाहिए जिनमें बालक की सक्रियता कुछ सीमा तक अवश्य सम्भव हो सके और शब्दों का ठोस रूप उसके समक्ष उपस्थित किया जा सके। विशेषतः मौखिक भाषा शिक्षा में साकार अर्थों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

मौखिक भाषा-शिक्षण के चार साधन—इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिशु की भाषा शिक्षा में निम्नांकित साधनों के प्रयोग से उच्चकोटि की सफलता प्राप्त की जा सकती है—

१—अनुभव अथवा पूर्वार्जित कार्य-ज्ञान—उसके अनुभवों से आगे के कार्यों को सम्बन्धित करके अधिक सरलतापूर्वक भाषा ज्ञान कराया जा सकता है।

२—**पूर्वार्जित शब्द-भण्डार**—जिन शब्दों को उसने पूर्व कार्यों तथा परिस्थितियों में प्रयोग किया है उनकी ही सहायता से आगे बढ़ने में लाभ होगा।

३—**औत्सुक्य-समाधान**—उसकी उत्सुकता और जिज्ञासा तथा शंकाओं का समाधान सर्व प्रथम आवश्यक है। उसके बिना उसकी रुचि आगे के कार्य में न बढ़ेगी और वह सीखने में संलग्न न होगा।

४—**सक्रियता**—ठोस अर्थों से सम्बन्धित प्रत्यक्ष कार्य द्वारा ही उसका सीखने का क्रम प्रगतिपूर्ण हो सकता है, निराकार अर्थों और निष्क्रियता द्वारा नहीं।

यह ध्यान देने की बात है कि इन साधनों को निष्कर्ष रूप में प्राप्त करने से पहिले जो कुछ कहा गया है वह बालक की सहज-शिक्षा से सम्बन्धित है, विद्यालय की शिक्षा अथवा नियमवद्ध शिक्षा से नहीं। किन्तु मनोविज्ञान ने यह निश्चित कर दिया है कि यदि नियमवद्ध शिक्षा में सहज-शिक्षा के आधारों और साधनों के उपयोग का ध्यान न रक्खा जायगा तो वह भारस्वरूप और गतिहीन हो जायगी। इसी लिए नियमवद्ध शिक्षा के वर्णन से पहिले शिशु की सहज-शिक्षा के आधारों-साधनों और विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

चतुर्थ अध्याय

भाषा-शिक्षण में वार्त्तालाप का महत्त्व

वार्त्तालाप और दैनिक जीवन—हमारे नित्य के जीवन में वार्त्तालाप अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। घर बाहर, पास पड़ोस,

सभा-सोसायटी, दर्शन-पर्शन, मेले-ठेले सभी स्थानों में हम भाई-बन्धु, हित-नात, संगी-साथी किसी न किसी से प्रायः वार्त्तालाप करते रहते हैं। केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं गंभीर से गंभीर समस्याओं को सुलझाने के लिए भी हम वार्त्तालाप का सहारा लेते हैं। जो व्यक्ति वार्त्तालाप में दक्ष होता है वह अपनी कठिनाइयों से सम्बन्धित बड़े बड़े रहस्यों का पता वार्त्तालाप द्वारा बात की बात में लगा लेता है और अपने दुःसाध्य कार्यों में भी सरलता पूर्वक सफलता प्राप्त करता है।

जीविकोपार्जन से सम्बन्धित जीवन के विभिन्न व्यापारों में प्रायः देखा गया है कि बोलचाल की सरसता और वाक्चातुरी से जो लाभ बड़े थोड़े प्रयत्न से उठाया जा सकता है वह उस कुशलता की अनुपस्थिति में कठिन प्रयास से भी सम्भव नहीं होता। राजनीति के बड़े बड़े दाव-पेच से लेकर छोटे छोटे घरेलू और पास पड़ोस के मसले वार्त्तालाप द्वारा ही सुलझाये जाते हैं।

वार्त्तालाप और भाषण—भाषण वृहत् वार्त्तालाप का एक पक्षीय रूप है। जहाँ वार्त्तालाप में भाग लेनेवाले दोनों पक्ष बड़ी से बड़ी बात को अनेक टुकड़ों में विभाजित करके प्रति दो चार वाक्यों को बीच बीच में प्रश्नोत्तर आदि के रूप में उपस्थित करते हैं वहाँ भाषण देने वाला व्यक्ति बड़ी लम्बी बात को भी एक सुलझे हुए रूप में श्रोता (दूसरे पक्ष) के समक्ष उपस्थित करके अपनी पूरी बात का उत्तर अथवा फल अन्त में अपना भाषण समाप्त करने के पश्चात् प्राप्त करता है। वार्त्तालाप की चतुरता तथा भाषण की सफलता में बड़ा निकट का सम्बन्ध है। प्राचीन काल की ग्राम-पंचायतों के पंचों से लेकर आज की महती सभाओं में बोलने वाले नेताओं के भाषण द्वारा समस्यायों के स्पष्टीकरण और अपने पक्षों के प्रतिपादन का जो इतिहास हमारे सामने है उससे भाषणों की सफलता

का पूरा परिचय प्राप्त होता है। वाद विवाद, शास्त्रार्थ तथा न्यायाधीशों के समक्ष विधान-पण्डितों द्वारा विधियों की उत्कृष्ट व्याख्या आदि वार्त्तालाप के अत्यन्त परिष्कृत और व्यवस्थित रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

विश्व विख्यात वर्तमान योरपीय साहित्यकार जार्ज बर्नर्ड शा से इंग्लैण्ड के एक अंग्रेज़ न्यायाधीश ने एक मामले के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए पूछा—"क्या आप अंग्रेज़ हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"प्रभो, क्षमा कीजिये, मैं एक मानव हूँ।" न्यायाधीश शा महोदय के इस एक वाक्य के उत्तर से अपने प्रश्न के बेढंगेपन तथा अंग्रेज़ों की मानवता सम्बन्धी कमी की ओर किये गये संकेत से इतना क्षुब्ध हुआ कि उसी समय कार्य को स्थगित करके आगे का काम उसने दूसरे दिन के लिए टाल दिया।

नेताओं के भाषणों में वह शक्ति होती है जिसके इशारे पर जनता आकाश में पेबन्द और पानी में आग लगाने को तैयार हो जाती है। इँग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन की वक्तता में वह शक्ति थी जिससे ब्रिटेन की सम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया भी कठपुतली की तरह उसके संकेत पर हिलती डोलती थीं। भारत के चिरस्मरणीय नेता श्री सुभाषचन्द्र बोस ने बहादुर शाह की दुर्दशा की स्मृति में आँसू गिराते हुए राष्ट्रीयता से ओतप्रोत जो वीरत्वोत्पादक भाषण किया उसके फलस्वरूप अंग्रेज़ों द्वारा संरक्षित और परिचालित भारतीय सेना के हिन्दू और मुसलमान दोनों सदस्यों पर इतना गम्भीर प्रभाव पड़ा कि लाखों की संख्या में उन्होंने अंग्रेज़ों का साथ छोड़कर अपने को 'भारत की राष्ट्रीय सेना' के रूप में परिवर्तित कर दिया और इम्फल के मैदान में भूखे रह कर अंग्रेज़ों से भीषण युद्ध किया। उस एक व्याख्यान ने हिन्दू मुसलमान दोनों जातियों में वह ऐक्य उत्पन्न कर दिया को महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य

अगणित नेता पचासों बर्ष के अथक परिश्रम के पश्चात् भी उत्पन्न करने में सफल न हुए। सिद्ध वक्ता अपने भाषण में उपस्थित किये गये तथ्यों में इतनी गहराई तक डूब जाता है कि उसके अनुकूल गति तथा हाव-भाव में यथावश्यक परिवर्तन अपने आप होता रहता है—करुणा की परिस्थिति में उसके जिन नेत्रों में अश्रुकण नाचते रहते हैं, क्रोध की स्थिति आते ही उन्हीं में क्षणभर के भीतर ही अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगती हैं—यही कारण है कि आज प्रस्तर-निर्मित मूर्त्तियों के चरणों पर पत्र-पुष्प अर्पित करके घण्टों तक श्रद्धापूर्वक दण्डवत करने वाली जनता कल ही उन्हें अपने ही हथौड़ों से टुकड़े टुकड़े करके कूड़े-कबाड़ में फेंक देती है और कल के हत्यारे को आज गले से लगाने के लिए तैयार हो जाती है। फ्रान्स, आयर्लैण्ड, तुर्की रूस आदि की युगान्तरकारी क्रान्तियाँ केवल कुछ भाषणों के फलस्वरूप हुईं। महात्मा लेनिन के एक ही व्याख्यान से प्रभावित होकर रूस की जनता ज़ारों का अपमान करने के लिए उनकी कब्र खोदकर उनके मृत शरीर का अवशिष्ट ढूँढ़ने लगी।

ये उदाहरण यह प्रमाणित करते हैं कि अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के निमित्त हमारे भाषण में अच्छे गुणों की उपस्थिति अनिवार्य है। अतएव यदि हम चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थी वार्त्तालाप में निपुण और सफल वक्ता बनें तो यह आवश्यक है कि बोल-चाल और भाषण के इन गुणों की नींव हम उनमें प्रारम्भिक शिक्षा-काल से ही डालने का प्रयत्न करें जिससे आगे चलकर अत्यन्त सरलता पूर्वक वे इच्छित कुशलता प्राप्त कर सकें।

सफल वार्त्तालाप तथा भाषणादि के आवश्यक गुण—जैसा ऊपर कहा गया है वार्त्तालाप तथा भाषण इत्यादि में पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त कर सकना तभी सम्भव है जब उनमें निम्नांकित गुण उपस्थित हों :—

[१] **स्वाभाविक**—हमारी बातचीत का ढंग स्वाभाविक होना चाहिये। बनावट से मनुष्य को अति शीघ्र घृणा होने लगती है और वह बनावटी ढंग से बातचीत करने वाले व्यक्ति का मखौल उड़ाने तथा उस पर व्यंग कसने लग जाता है; न उसकी बातों को ध्यान पूर्वक सुनता है और न उससे उचित सीमा तक प्रभावित होता है। यदि हम नित्य साथ रहने वाली पत्नी से एक रात अलग रह कर प्रातःकाल लौटते ही कहें, "हे प्रिये ! तुमसे अलग रहने के कारण रात युग के समान बीती है और एक क्षण के निमित्त भी मेरे नेत्र पलक न मूँद सके" तो वह इसे मखौल के अतिरिक्त और कुछ भी न समझेगी।

जिससे हम सर्वदा हिन्दी में बात करते रहे हैं उससे बिना परिस्थिति विशेष के अंग्रेजी में बोलने लगना और जिसको सर्वदा तुम कहते रहे हैं उसे अचानक आप कहना अस्वाभाविक होगा।

२—**गतिशील**—विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में सफल होने के साथ ही हमारी भाषा में उचित गति अथवा प्रवाह का होना आवश्यक है। एक ही स्वर और भाव से आदि से अन्त तक सम्पूर्ण वार्त्ता अथवा भाषण समाप्त कर जाना श्रोता के आकर्षण को क्रमशः नष्ट करता जाता है। ऐसी स्थिति में यदि श्रोता बड़े से बड़े हितैषी अथवा नेता की बात को अनमना सा एक कान से सुन-कर दूसरे कान से निकाल दे अथवा वार्त्ता शीघ्र समाप्त होने का रास्ते देखने लगे तो आश्चर्य की बात नहीं है। करुणा अथवा दुख की बातों को मन्द और दर्द भरे स्वर से कहना तथा क्रोध और शौर्य की बातों को उच्च स्वर तथा आवेश के साथ कहना स्थिति के स्पष्टीकरण तथा श्रोता के ध्यान को संलग्न रखने में यथेष्ट सहायता पहुँचाता है।

२—हावभाव-युक्त—इसके साथ ही इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि जिस प्रकार के भाव से युक्त बात कही जाय उसके अनुकूल नेत्र, भौंह मुखाकृति तथा शरीर के अन्य आवश्यक अंगों का उचित संचालन भी होता रहे अन्यथा, श्रोता के हृदय पर वांछित प्रभाव डाल सकनेमें पूर्ण सफलता न प्राप्त होगी। यदि हम प्रस्तरकी मूर्त्तिकी तरह खड़े रहकर साधारण से साधारण और भीषण से भीषण, शोक की और हास्य की, करुणा की और क्रोध की सभी घटनाओं को यन्त्र की तरह कह जायँ तो उनकी ओर आकर्षित होने को कौन कहे उनमें से कितनी तो समझ में भी न आयेंगी क्योंकि भाव ग्रहण करने में श्रोता आँख और कान दोनों की सहायता से मस्तिष्क का प्रयोग करता है।

यदि क्रोध में आँखों का लाल होना और चढ़ जाना, भौंहों का तन जाना, दाँत का पिसना आदि स्वाभाविक हैं तो यह भी आवश्यक है कि क्रोध की बात का वर्णन करने में एक सीमा तक वे सभी लक्षण दिखाई देने लगें। ऐसा न होने पर बोलने वाले की उस बात की ओर लापरवाही दृष्टिगत होने लगती है।

यहाँ इस बात को भूलना न चाहिये कि भावों के शारीरिक प्रदर्शनों की एक सीमा होती है। यदि बोलनेवाला उस सीमा को पार कर जायगा तो भी भाव की सचाई तथा गहराई लुप्त होकर बनावट दृष्टिगत होने लगेगी। मेरे एक छात्राध्यापक ने राम वनगमन के वर्णन से सम्बन्धित तुलसीदास की एक सवैया के 'करि सैन कछू समुझाय चली', का अर्थ समझाते समय नेत्रोंसे इंगति करने के भाव का स्पष्टीकरण करने के लिए अपने नेत्रों को दो चार सेकण्ड तक टेढ़ा किये रक्खा। उसका फल यह हुआ कि कक्षा के सभी विद्यार्थी एक दूसरे की ओर टेढ़ी तिरछी निगाहों से ताक कर मुस्कु-राने और मखौल उड़ाने लगे। इसलिए हावभाव का आंगिक

प्रदर्शन जितना आवश्यक है उससे कहीं अधिक उसकी सीमा का ध्यान रखना।

४—श्रोता के अनुकूल—हम जिससे वार्त्तालाप कर रहे हैं अथवा जिसके सामने भाषण कर रहे हैं उस व्यक्ति अथवा जनसमूह के भाषा सम्बन्धी स्तर का ज्ञान रखना हमारे लिए आवश्यक है। हम जो कुछ कह रहे हैं उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट अथवा शैली इतनी गुम्फित न हो कि कही घर की सुनी घाट की अथवा बात समझने और प्रभावित होने के स्थान पर हमारा मुँह ताकते रह जायँ। प्रायः देखा गया है कि विद्यार्थी किसी किसी वक्ता अथवा अध्यापक के भाषण के सम्बन्ध में यह धारणासी बना लेते हैं कि उनकी बात का ५० प्रतिशत समझ में नहीं आयेगा, इसलिए उनके व्याख्यान में जाना ही व्यर्थ है। मेरे एक मित्र एक डाक्टर के यहाँ जाने में केवल इसलिए संकोच करते हैं कि उनकी पूछी हुई बातों का उत्तर ही देना उनके लिए कठिन हो जाता है। यह बोलने वाले के लिए भी कोई सम्मान अथवा गर्व की बात नहीं है। इससे उसके व्यापार अथवा उद्देश्य की पूर्त्ति में रुकावट ही पैदा होती है लाभ नहीं होता।

कठिन भाषा बोलने में प्रायः कथन की स्वाभाविकता का लोप भी हो जाता है जो वक्ता का एक आवश्यक गुण है। कुछ अध्यापक ऊच्च श्रेणियों में शिक्षा प्रारम्भ करने के समय पहले एक दो दिन बड़ी क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं ताकि विद्यार्थी पर उनका सिक्का जम जाय। फिर कुछ समय पश्चात् अपने साधारण स्तर पर आ जाते हैं और विद्यार्थी का विचार अपनी ओर अच्छा बनाने के लिए कह देते हैं कि उनका भाषा-स्तर के नीचा होने के कारण उन्हें भी अपना भाषण उसी स्तर पर लाना पड़ा। किन्तु यह भूलना नहीं चाहिये कि विद्यार्थी एक सीमा तक अध्यापक के गुरु का कार्य करता

है—वह हमें अच्छी प्रकार पहिचान लेता है कि हम प्रारम्भ में अतिरिक्त रंग से रंगे हुए थे और अब हमारा असली रंग धीरे-धीरे सामने आ रहा है, क्योंकि आदतें इतने शीघ्र नहीं बदली जा सकतीं।

इसी प्रकार जब दूसरे लोगों को हमारी भाषा समझने में कठिनाई उत्पन्न होने लगती है तब उनके लिए हमसे हृदय खोलकर बात करना दुर्लभ हो जाता है। यदि सुननेवालों में अनेक भाषाएँ बोलने वाले लोग हों तो वहाँ अपनी साधारण भाषा का प्रयोग न करके ऐसी भाषा का यथासम्भव प्रयोग करना उचित है जो प्रायः सब लोग समझ सकें। किन्तु अत्यन्त उच्च साहित्यिक मण्डलों में साधारण भाषा बोलने से उचित सम्मान न होगा।

स्थिति के अनुकूल—श्रोता के अनुकूल होने के साथ ही बात स्थिति के भी अनुकूल होनी चाहिये। यदि हम किसी के पिता अथवा पुत्र की मृत्यु का समाचार उसके घर देने जायँ और कहें 'अहा! हे मित्र, परमेश्वर की असीम अनुकम्पा से आप के पुत्र का देहान्त हो गया' तो वह यदि लाठी लेकर मारेगा नहीं तो घसीट कर कमरे से बाहर तो अवश्य ही कर देगा।

भारतीय मुसलमानों के सामने सैकड़ों भाषण देकर और उनके नेताओं से पचासों बार बातचीत करके भी महात्मा गान्धी उन्हें पाकिस्तान बनाने से न रोक सके क्योंकि मुसलमानों की स्थिति उन भाषणों और बातों के पक्ष में न थी। सहस्रों बार करबद्ध प्रार्थना करने और स्वतन्त्रता की भीख माँगने पर भी अंग्रेजों ने भारत नहीं छोड़ा। हम बिना उनके पलायन योग्य स्थिति उत्पन्न किये ही उनसे ये बातें करते थे इसलिए उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जब वैसी स्थिति हमने उत्पन्न कर दी तो एक ही बार कहने से उन्होंने बिना विलम्ब पश्चिम की ओर मुँह कर लिया।

वक्ता चाहे तो श्रोता की भिन्न स्थिति को भी अपने अनुकूल बना ले सकता है। बिना स्थिति को पक्ष में किये कही हुई बात प्रायः प्रभावशून्य ही होती है।

हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ते समय मेरे एक मित्र के पिता के देहावसान के सम्बन्ध में तार आया। समाचार अत्यन्त दुःखद था। परीक्षा के दिन थे। जब वे परीक्षा देकर आये तो मेरे एक दूसरे मित्र उनके कमरे में गये। घटना का दुःख हम सबको भी था। उन्होंने रोने जैसी सूरत बनाये अत्यन्त करुणास्वर में कहा "विमल भाई, पिताजी का देहान्त हो गया, बड़े असमय में वे हम लोगों को छोड़कर चले गये" आदि। विमल को भी बड़ा दुःख हुआ किन्तु किसी प्रकार ढाढ़स देना तो आवश्यक ही था। वह कहने लगा "क्या करोगे भाई, इस संसार में किसके माता-पिता सर्वदा जीवित रहते हैं; ढाढ़स रक्खो, अभी परीक्षा देनी है" आदि। यह पूछने पर कि कैसे समाचार मिला उन्होंने तार दे दिया। तार से अपने पिता की मृत्यु का समाचार पाकर विमल फूट-फूटकर रोने लगा। किन्तु तुरन्त मेरे मित्र ने विमल के कहे हुए वाक्यों को दुहराना प्रारम्भ कर दिया "क्या करोगे भाई......" आदि। विमल को शान्त होने में पाँच मिनट भी न लगे। स्थिति के पक्ष में करने का यह उदाहरण अत्यन्त कटु है किन्तु है बहुत निखरा हुआ।

सीधी और स्पष्ट—हम जो कुछ कहें वह स्पष्ट हो तो अन्ततोगत्वा उसका फल सुन्दर होगा, 'हाँ, नहीं' के बीच में अथवा प्रत्यक्ष नकारात्मक उत्तर को अप्रत्यक्ष स्वीकारात्मक बनाकर कहना समाज में मनमुटाव बढ़ाता है।

मैं परीक्षा देने लखनऊ जाना चाहता हूँ, मुझे घड़ी की आवश्यकता है। मैंने आप से घड़ी माँगी। आपकी इच्छा देने की नहीं है तो स्पष्ट कह दीजिये—"मेरे लिए एक क्षण भी इस घड़ी का वियोग असह्य

है", मैं शीघ्र ही कोई दूसरा दरवाजा खटखटाऊँगा। किन्तु आप हमदर्दी दिखाने तथा सज्जन बनने के लिए कह देते हैं "हाँ हाँ, यह तो आपकी ही है। जब चाहे ले जाइये। इसकी चाल में कुछ विकार पैदा हो गया है; यदि कारीगर के यहाँ न चली गई तो कल जाते समय ले लीजियेगा।" मैं कठिनाई में पड़ गया सोच नहीं सकता कि वह प्राप्त होगी अथवा नहीं। यदि आपका भरोसा कर लिया और जाते समय माँगने पर न मिली तो हमें कष्ट के साथ ही घृणा भी होगी। माँग स्पष्ट रूप से अस्वीकृत हो जाने पर न मुझे कोई हानि होती और न मैं आपको मन में कोसता।

प्रायः विवाह आदि के सम्बन्ध में लोगों को अस्पष्ट स्वीकृति देते देखा जाता है। ऐसा केवल इसलिए करते हैं कि कई उम्मेदवारों को फँसा रक्खें, जो अधिक दहेज देगा उसी से सम्बन्ध कर लेंगे। किन्तु इसका फल यह हो रहा है कि एक पक्ष के अच्छी प्रकार स्वीकार कर लेने पर भी दूसरा पक्ष चिन्तित और सशंक बना रहता है। समाज में एक दूसरे का विश्वास कर सकना कठिन हो गया है।

राजनीतिक अस्पष्टवादिता प्रायः राष्ट्रों के अविश्वास का कारण बन रही है। अमेरिका यह कभी नहीं कहता कि वह रूस की शक्ति-वृद्धि नहीं देखना चाहता। वह कहता है कि संसार में शांति बनाये रखने के लिए समाजवादी चीन को राष्ट्र-संघ में न लेना तथा हिन्द-ऐशिया आदि को आर्थिक सहायता पहुँचाना आवश्यक है। काश्मीर की समस्या केवल राष्ट्र-संघ की अस्पष्टवादिता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है।

लोकोक्ति तथा जनश्रुति—समाज में प्रायः प्रयोग में आने वाली लोकोक्तियों तथा जन-श्रुतियों से भाषा में सौष्ठव, व्यवहारिकता तथा अपनापन दिखाई देने लगता है। उपन्यास *सम्राट स्वनाम धन्य श्री प्रेमचन्द की भाषा की सरसता का एक प्रधान कारण व्यवहा-

रिकता तथ महावरों आदि का सफल प्रयोग भी है। बात को अधिक स्पष्ट करने में लोकोक्तियों से तथा अधिक मनोरंजक बनाने में जन-श्रुतियों से बड़ी सहायता प्राप्त होती है।

आपका कोई पड़ोसी अपना मकान बेचना चाहता है। दो ग्राहक लगे हैं—एक पाँच हजार नकद देना चाहता है दूसरा ६ हजार दो महीने पश्चात्। वह आप से राय लेने आता है तो आप कहते हैं "नकद वाले को दे दो", वह स्वीकार कर लेता है और कुछ सोचता हुआ चला जाता है। किन्तु यदि आप कहते हैं "भाई मसल है कि नौ नकद न तेरह उधार, मैं तो ५००० नकद ले लेना ही अधिक सुरक्षित समझता हूँ" तो वह पहले से अधिक प्रभावित होता है और दृढ़प्रतिज्ञ होकर चला जाता है।

लक्ष्य का ध्यान—इन सब गुणों से युक्त भाषा रहते हुए भी यदि बात कहनेवाला आवश्यकता से अधिक कह जाय तो जिस बात पर वह जोर देना चाहता है उससे हटकर श्रोता का मस्तिष्क कहीं और पहुँच जाता है। फलतः वक्ता अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर पाता। इसलिए यह आवश्यक है कि हम जो कुछ कहना चाहते हैं उसका सम्यक् ध्यान रक्खें और उससे सम्बन्धित इधर उधर की बातें कहने के पश्चात् घूम फिर कर बीच-बीच में अपने उद्देश्य पर पहुँच जाया करें, जिससे श्रोता का ध्यान उसी ओर झुका रहे। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय ३-४ घण्टे तक लगातार भाषण अथवा बातचीत करते रहने पर भी श्रोता को कभी यह अनुभव न होने देते थे कि वे आवश्यकता से अधिक बोल गये।

बोलने में कुशल अध्यापक अपने विषय को निश्चित समय की सीमा में समाप्त कर लेने के साथ ही विद्यार्थियों के अनेक अप्रत्यक्ष प्रश्नों का उत्तर भी दे जाता है। किन्तु अनेक अध्यापकों को उच्च कक्षा के विद्यार्थी प्रायः इधर उधर के प्रश्नों द्वारा विषय से इतने

दूर ले जाते हैं कि उन्हें बिना अपना निश्चित कार्य पूरा किये ही समय बीत जाने पर कक्षा से बाहर चले जाना पड़ता है।

शब्दों पर आवश्यक बल—जिस प्रकार लक्ष्य का ध्यान रखना और उस पर जोर देते रहना आवश्यक है उसी प्रकार प्रत्येक वाक्य के आवश्यक शब्द पर भी जोर देना अनिवार्य है।

हम किसी से प्रश्न करते हैं—"आपने यह घोड़ा ५००) में खरीदा है ?" उस समय हम यह ध्यान नहीं देते कि हमारे स्वर का जोर किस शब्द पर पड़ गया यद्यपि हम ठीक उत्तर प्राप्त करने की आशा अवश्य रखते हैं। मान लीजिये मैंने आप शब्द पर जोर दिया, **आप** ने यह घोड़ा ५००) में खरीदा है ? इसका तात्पर्य यह हुआ कि कोई और व्यक्ति खरीद सकता है; आप क्या खरीदेंगें।

इसी प्रकार यदि हम **यह** शब्द पर जोर दें तो वाक्य का अर्थ होता है कि कोई और घोड़ा ५००) में खरीदा जा सकता है यह नहीं। यदि हम **घोड़ा** पर जोर दें तो अर्थ यह होता है कि मोटर गाड़ी या वायुयान ५००) में खरीदा जा सकता है, घोड़े का इतना मूल्य नहीं हो सकता। यदि हम **५००)** पर जोर दें तो वाक्य का अर्थ होगा कि इस घोड़े का दाम और कम देना चाहिये था और यदि हम **खरीदा था** पर जोर दें तो अर्थ यह होगा कि आपने खरीदा नहीं; कहीं से माँग लाये हैं या चुरा लिया है आदि।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वांछित उत्तर पाने के लिए आवश्यक शब्द पर जोर देना अनिवार्य है।

सामाजिक शिष्टता—उच्च गुणों के साथ ही हमारी बोलचाल अथवा भाषण में सामाजिक शिष्टता का होना भी अति आवश्यक है। छोटे और बड़े, मालिक और मजदूर विद्वान और मूर्ख सब के साथ

एक ही प्रकार की भाषा बोलना सब धान बाईस पसेरी तौलने के बराबर है। किसे तुम कहना चाहिये किसे आप, किसे आज्ञा देनी चाहिये और किससे अनुनय करना चाहिये आदि का उचित ध्यान रक्खे बिना हमारी वाणी सर्वगुण सम्पन्न न होगी।

हिन्दुओं का 'अरे' और मुसलमानों का 'अमा' बड़े कर्कश शब्द हैं। इसलिए इनसे असभ्यता टपकती है। ऐसे कर्कश सम्बोधनों का प्रयोग करना अथवा बालकों में होने देना श्रेयस्कर नहीं है।

सत्यता और प्रियता—हमारी बात का सत्य होना तो आवश्यक है ही उसका प्रिय होना उससे भी अधिक आवश्यक है। अप्रिय सत्य श्रोता को दुखदायक और कभी कभी क्रोधोत्पादक भी होता है।

यदि हम किसी से इस प्रकार न पूछ कर कि 'आप किसके पुत्र ह ?' पूछें 'किस पुरुष के संसर्ग से आपकी माता ने आप का जन्म दिया' ? तो लोग पागल समझ कर ढेला मारने लगेंगे। यद्यपि बातें दोनों सत्य हैं और उनके उत्तर भी एक ही हैं, किन्तु पहला सत्य प्रिय है और दूसरा अप्रिय; एक उचित है और दूसरा अनुचित।

वाणी में प्रियता अथवा मिठास के गुण की भूरि भूरि प्रशंसा कवियों द्वारा की गई है।

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहुँ शीतल होय।
तुलसी मीठे बचन से, सुख उपजे चहुँओर।
वशीकरण इक मंत्र है, तज दे वचन कठोर।
मधुरी बाणी बोलिए, पहिले मनमें तोल।
विष बाशिक का ऊतरे, जिह्वा का इक बोल।
दोनों रहिमन एक से, जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परत हैं काक पिक, ऋतु बसन्त के माहिं।

बिगड़ता हुआ कार्य भी मधुर भाषण से बन जाते देखा गया है। साधारण मनुष्य जहाँ कर्कश बोली से झगड़ा कर बैठता है, वहाँ बुद्धिमान व्यक्ति मीठी बोली से घटना को साधारण स्थिति में परिवर्त्तित कर देता है।

बुद्ध भगवान सुजाता के यह कहने पर कि 'मेरे मृत पुत्र को जीवित कर दीजिये' क्रोधित हो सकते थे, और अपनी परीक्षा लेने से अपमानित होकर कड़ा उत्तर दे सकते थे। किन्तु उन्होंने बड़े मीठे स्वर में कहा—"तुम किसी ऐसे व्यक्ति से थोड़ा जल ले आओ जिसके घर कभी कोई मरा न हो, तब यह जीवित हो जायगा"। सहस्रों घर घूम कर सुजाता को सर्वदा के लिए वह विराग हो गया कि फिर उसने अपने मृत पुत्र के जीवित होने की आकांक्षा कभी नहीं की।

कड़े से कड़े शब्दों यहाँ तक कि अपशब्दों का प्रयोग करने पर भी महात्मा गांधी प्रश्न का उत्तर बड़े ही मधुर और स्पष्ट वाक्यों में देते थे, जिससे प्रश्न करने वालों के ऊपर सौ घड़े पानी पड़ जाता था; लज्जा से सिर झुक जाता था।

कटु सत्य को भी सरस बनाकर कहने वाला अध्यापक सर्वदा शिष्यों का प्रेम-पात्र बना रहता है। शिशु की चोरी आदि कुटेव छुड़ाने तथा चिड़चिड़ापन दूर करने के लिए मीठी वाणी अमोघ अस्त्र है।

उक्त सभी गुण वार्त्तालाप तथा भाषण दोनों के लिए आवश्यक है, अन्तर केवल परिमाण का है। कुछ बातों के विषय में यह कहा जा सकता है कि हम साधारण बोलचाल में उनका जितना ध्यान रक्खेंगे उससे कहीं अधिक ध्यान भाषण अथवा व्याख्यान और कथा आदि में देना पड़ेगा। इसके दो प्रधान कारण हैं।

१—वार्त्तालाप में वक्ता और श्रोता के बीच की स्वाभाविक स्थिति का भाषण काल की स्थिति में अभाव।

२—सम्बन्ध की घनिष्ठता में कमी।

१—भाषण के समय जो महती संख्या हमारे सामने उपस्थित रहती है वर्त्तालाप के समय उसका अभाव होता है। इस दशा में हमारे बोलने के स्वाभाविक ढंग में अपने आप परिवर्तन हो जाता है। संसार के महानतम वक्ताओं का इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि भाषण के प्रारम्भिक काल में सामान्यतः एक संकोच और घबड़ाहट की भावना अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करती रहती है जो कई बार भाषण करने के पश्चात् क्रिया के आदत रूप में परिणत हो जाने से अदृश्य हो जाती है। किन्तु बातचीत में ऐसा बहुत कम होता है। वार्त्तालाप में हम जिस घरेलूपन का अनुभव करते रहते हैं और जिस स्वच्छन्द रूप से बातें हमारे मुख से निकलती हैं वह स्थिति भाषण के लिए सम्भव नहीं है। वहाँ हमें साधारणतः अधिक गम्भीर और उत्साही बनना पड़ता है जिससे कुछ कृत्रिमता किसी न किसी प्रकार अवश्य आ जाती है।

२—सम्बन्ध की घनिष्ठता का जो अप्रत्यक्ष लाभ हम वार्त्तालाप में उठाते हैं वह भाषण में अप्राप्य होता है क्योंकि वहाँ श्रोता में हमारे मित्र, शत्रु, मूर्ख, विद्वान, योगी ढोंगी सभी सम्मिलित रहते हैं। हमें अपनी बात इस प्रकार रखने का प्रयत्न करना पड़ता है जिससे सब पर अच्छा प्रभाव पड़े और सभी हमारे पक्ष में आ जायँ।

बालक की शिक्षा में हमें व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों स्थितियों का सामना करना पड़ता है। अतएव वार्त्तालाप और भाषण दोनों ही के श्रेष्ठ गुणों को ध्यान में रखना हमारे लिए अनिवार्य है। यदि हम प्रारम्भ से शिशु में इन गुणों के समावेश का प्रयत्न न करेंगे तो आगे चलकर उनकी आदतों के बिगड़ जाने के पश्चात् स्थिति को

पक्ष में लाना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जा सकता है। इसके साथ ही हम जो कुछ कहें उसका अधिक से अधिक प्रभाव बच्चों पर पड़े और वे हमारे भावों को ग्रहण करने में किसी प्रकार भी दुरूहता का अनुभव न करें; एकाग्र चित्त से सुनें तथा कठिन से कठिन बात को हँसते-हँसते सीख लें, इसके निमित्त भी इन गुणों पर ध्यान रखकर आगे बढ़ना आवश्यक है।

वार्त्तालाप द्वारा भाषा-शिक्षा के उपाय—

१—विद्यार्थी और अध्यापक के सम्बन्ध में अधिक से अधिक निकटता और स्वतंत्रता।

२—दोनों की परिस्थितियों का एकीकरण।

३—विषय की सीमा से अनभिज्ञता।

४—पाठ्य पुस्तकों के प्रयोग की गौणता।

५—मौखिक रचना में क्रम पूर्ण सुधार।

१—जब तक बालक अध्यापक के साथ घरेलूपन की निकटता का बोध न करेगा तब तक स्वाभाविक रूप से अपने मन में आई बात को उसके सामने रख देने में उसका संकोच अथवा भय बना रहेगा। वार्त्तालाप का वातावरण इस प्रकार का हो जाना चाहिये कि विद्यार्थी अपने को बन्धन में होने का अनुभव न करे और न उसे यह बात ध्यान में आये कि वह जो कुछ कह रहा है वह महत्त्वहीन है अन्यथा वह अपने हृदय की दबी हुई भावनाओं को कभी भी व्यक्त न होने देगा और सर्वदा अयोग्यता का अनुभव करता रहेगा।

कक्षा में पठन-पाठन के पश्चात् अवकाश के समय जलपान के समय तथा खेल के मैदान के मुक्त वातावरण में अध्यापक से वार्त्तालाप करने का पूरा लाभ उसे प्राप्त हो सकता है यदि शिक्षक उस समय उसके हृदय के अधिक से अधिक निकट पहुँचने का

प्रयत्न करे और उसे यह अनुभव होने दे कि वह भी अवकाश के समय मनोरंजन करने, जलपान के समय खाने पीने तथा खेल के समय खेलने के लिए उतना ही आतुर है जितना बालक।

२—वार्तालाप के समय दोनों की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का एकीकरण हो जाने से बालक अध्यापक के सामने अधिक उत्साह से बात करनेके लिए आगे बढ़ता है। मान लीजिये बालक कोई कहानी कह रहा है; बीच में कहीं भूल जाता है। उस अवस्था में अध्यापक यदि कहानी को जानता भी है तो उसे बता देना उचित नहीं है, अन्यथा तुरन्त विद्यार्थी का उत्साह हीन होने लगेगा। उसे यह अनुभव होगा कि गुरुजी तो यह जानते ही हैं इसलिए उनको कोई आनन्द इसमें न आता होगा। वहाँ अध्यापक को यह प्रकट करना चाहिये कि वह भी उसी परिस्थिति में है—अर्थात् आगे क्या कहना है वह नहीं जानता, किन्तु उदासीन नहीं है, वह भी सोचने का प्रयास कर रहा है। जब विद्यार्थी को घटना अथवा कथा के शेषांश का स्वयं स्मरण हो जायगा तो आगे की वार्ता अधिक उत्साहपूर्वक होगी। किसी भी अवस्था में अध्यापक को यह प्रकट नहीं होने देना चाहिये कि बालक जो बातें कह रहा है वे उसे विदित हैं अथवा उनसे वह कुछ सीख नहीं रहा है।

३—वार्तालाप के समय विद्यार्थी को यह न अनुभव होने देना चाहिये कि जिस विषय पर बातें हो रही हैं उनकी कोई ऐसी सीमा है, जिसके बाहर का कोई प्रश्न वह नहीं पूछ सकता अथवा जिसके बाहर के किसी प्रश्न का पूछना उसकी कक्षा सम्बन्धी या योग्यता सम्बन्धी सीमा से बाहर है, अन्यथा वह प्रत्येक बात करते समय यह सोचने में लग जाता है कि वह जो कुछ कह रहा है वह कहीं उस परिधि से बाहर की बात तो नहीं है। ऐसी स्थिति में उसकी स्वाभाविकता तथा जिज्ञासा दोनों को बड़ा धक्का लगता है और

वह दश बातों में पाँच भी मुँह से उत्साह पूर्वक बाहर नहीं निकाल पाता।

इसके साथ ही बातचीत का विषय ऐसा रखना चाहिये जो उसके नित्य प्रति के अनुभव तथा आनन्द से सम्बन्धित हो। संगी साथी, मेले ठेले, कथा कहानी, खेल कूद आदि ही अधिकांश प्रारम्भिक वार्त्तालाप के विषय हों जिनमें वह स्वतंत्र रूप से जो चाहे, उत्साह के साथ कह सके। कुछ पाश्चात्य विद्वान मुक्त वार्त्तालाप को इतना महत्व देने लगे हैं कि उनके विचार से छोटी कक्षा के बच्चों को नित्य प्रति पहला घण्टा बातचीत द्वारा निकटता तथा स्वतंत्रता की भावना बढ़ाने के लिए ही देना अति लाभदायक है। कक्षा के बाहर और भीतर के वार्त्तालाप में केवल विषय का अन्तर होना चाहिये। कल हम लोगों ने क्या पढ़ा था? राम की कहानी किसको याद है? घर पर इस कहानी को किसने किसने पढ़ा? कहानी सुनकर तुम्हारी माताजी ने क्या कहा? क्या तुम्हारी बहिन कहानियाँ खूब कहती हैं? आदि इसके विषय हों तो विद्यार्थी को पाठ्य विषय की शिक्षा और वार्त्तालाप दोनों का लाभ प्राप्त हो जाता है और वह कक्षा के वातावरण को गृह के अत्यन्त निकट ले जाकर स्कूल में रह कर भी घर पर होने का अनुभव करने लगता है। लम्बा समय घर से दूर पाठशाला के वातावरण में रुचिपूर्वक बिताने में यह सहायक होता है।

४—कक्षा में भी जो बातें वार्त्तालाप द्वारा सिखाई जाती हैं उन्हें विद्यार्थी उन बातों की तुलना में अधिक शीघ्रता से ग्रहण करता है, जिनकी शिक्षा अध्यापक बार बार पुस्तकें उठा उठा कर उनके सहारे देता है। इसलिए अध्यापक को यह ध्यान रखना चाहिये कि पुस्तकों की सहायता कक्षा में प्रायः सीमित रक्खे तो अति उत्तम हो। शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच में पुस्तकों का अधिक आते रहना भावों के

स्वतन्त्र आदान-प्रदान में एक रुकावट सा पैदा करता है और बालक को अपनी कठिनाइयों के निराकरण का सहारा लेने में अध्यापक के अतिरिक्त एक और स्थान की ओर संकेत करता रहता है जिससे अध्यापक को घनिष्टता और आवश्यकता में कमी प्रतीत होने लगती है। अतएव प्रारम्भिक कक्षाओं में कक्षा का भी अधिक से अधिक कार्य वार्त्तालाप द्वारा ही करना श्रेयस्कर है।

५—यह तो आवश्यक है कि बालक के सम्मुख जो विषय हम वार्तालाप के लिए उपस्थित करते हैं वह अत्यन्त सरल तथा नित्य प्रति के जीवन या मनोरंजन से सम्बन्धित हो। किन्तु कितना ही सरल और रुचिकर होने पर भी उसकी भाषा का ज्ञान तो अति सीमित ही है। इसलिए अत्यन्त साधारण बात को भी पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिए उचित वाक्य बनाकर कह सकना उसके लिए कठिन होता है और वह अनेक भूलें करता है। ऐसी स्थिति में यदि अध्यापक बार बार उसकी अस्पष्टताओं तथा अशुद्धियों की ओर संकेत करता और उन्हें सुधारने का प्रयत्न करता रहेगा तो निश्चित है कि विद्यार्थी घबड़ाने लगेगा और अपनी कमी का अनुभव करने के कारण उसका वार्त्तालाप क्रमशः विकृत और अधिक अव्यवस्थित होता जायगा।

आज के मनोविज्ञान ने वह स्पष्ट कर दिया है कि यदि विद्यार्थी से बार बार कहा जाय कि 'तुम भूल कर रहे हो' अथवा 'तुमने जो कुछ किया वह व्यर्थ है, उसे अमुक प्रकार से करो' तो उसकी कार्य-क्षमता घट जाती है और वह शीघ्र उन्नति नहीं कर पाता।' अतएव पहले तो शिशु की भूल न कह कर उसका इस प्रकार सुधार करना चाहिए जिससे वह समझे कि अमुक प्रकार से न कहकर अमुक प्रकार से कहना अधिक अच्छा है। फिर क्रमशः वैसी ही आदत पड के पश्चात् वह उस भूल से पूर्णतः मुक्त हो जाता है

भूलों की संख्या बहुत बड़ी हो सकती है, किन्तु उनमें अत्यन्त आवश्यक स्थलों पर ही सुधार करना चाहिये। सुधार का क्रम निम्नांकित होना अधिक लाभदायक होगा:—

१—शब्दों के यथासम्भव शुद्ध उच्चारण।
२—अस्पष्ट बातों को स्पष्ट करने की क्षमता।
३—भाषा तथा व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि।
४—वार्त्ता अथवा कथा का तारतम्य।
५—शैली।

आगे चलकर अवस्था के अनुकूल धीरे धीरे सुधारों की संख्या में क्रमशः वृद्धि होनी चाहिये। इन सुधारों के बीच में कभी कभी अध्यापक को छोटे छोटे रुचिकर और प्रभावशाली आदर्श उपस्थित करते रहना चाहिये। ये आदर्श इन सुधारों को स्थायित्व प्रदान करने में बड़ी सहायता पहुँचाते हैं।

सुधार करते समय बालक के उत्तर को किसी न किसी रूप में स्वीकार करने और यथावश्यक प्रोत्साहन देते रहने से कार्य की प्रगति में बाधा नहीं पहुँचती। यदि अध्यापक बालक को वाक्पटु बनाने में इस प्रकार सतर्क रहेगा तो बुद्धि का विकास और अनुभव की वृद्धि होने पर बालक के शब्द-चयन, स्पष्टीकरण, अभिव्यंजना, वार्ता के तारतम्य तथा भाषा की शैली सब में यथेष्ट सुधार हो जायगा।

मौखिक भाषा शिक्षण के अन्य साधन—भाषण तथा वार्त्तालाप मौखिक भाषा-शिक्षण में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। किन्तु उनके साथ ही अनेक अन्य बातें भी ऐसी हैं जिनकी ओर बालक की अवस्था, रुचि तथा योग्यता का ध्यान रखकर उसे आकर्षित करते रहने तथा यथासम्भव उनमें कार्यरत रखने से मौखिक रचना में यथेष्ट उन्नति होगी। इन साधनों में कथारचना, चित्रों का

अध्ययन, अभिनय, नाटक द्वारा पाठबोध, वाद विवाद प्रतियोगिता, कक्षा-प्रबन्ध-समितियाँ आदि हैं।

कथा रचना—कहानियाँ बालक की रुचि के अत्यन्त अनुकूल होती हैं। प्रायः देखा जाता है कि कितने ही बालक कहानी सुनने के ऐसे आदी हो जाते हैं कि बिना कोई न कोई कहानी सुने उन्हें नींद ही नहीं आती। बालक कहानी सुनने में जितना दत्तचित्त होता है, कहानी कहने में भी उससे कम नहीं। कहानी चाहे जैसी भी हो और उसका जो भी अंश उसे याद हो, दूसरों से कहने में वह बड़ा आनन्दित होता है। इस बात को ध्यान में रख कर उसे कहानी सुनने और कहने के उचित अवसर देकर उसकी मौखिक भाषा में उन्नति की जा सकती है। इसके निमित्त निम्नलिखित भिन्न भिन्न उपायों को काम में लाना चाहिये।

१—उनसे एक छोटी सी कहानी कहकर उन्हें पुनरावृत्ति के लिये कहा जाय।

२—कोई छोटी कहानी कह कर वैसी ही छोटी छोटी कहानियाँ उनसे स्वयं कहलाई जायँ।

३—उनसे भिन्न भिन्न घटनाओं का वर्णन कराया जाय और उनमें से कुछ को मिला कर अध्यापक एक कहानी का रूप खड़ा करे और उन्हें यह उत्साह दे कि वे भी कहानी की रचना कर सकते हैं।

४—क्रमशः लम्बी कहानियाँ सुनाई जायँ किन्तु उन्हें कई सोपानों में बाँट कर बीच बीच में कही हुई कथा के सन्बन्ध में बातचीत द्वारा उनके आकर्षण और वोध की थाह लगाई जाय तथा अन्त में कहानी के भिन्न भिन्न अंश भिन्न भिन्न विद्यार्थियों से कहलाये जायँ।

५—कभी कभी अनेक चित्रों को एकत्रित करके अध्यापक उनका आपस का सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित करे कि बालकों से उस विषय

में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर आपस में मिलकर एक कहानी का रूप धारण करें।

चित्रों का अध्ययन—ऊपर अनेक चित्रों के व्यवस्थित सम्बन्ध से कहानी रचने की बात कही गई है किन्तु वहाँ प्रत्येक चित्र की केवल प्रधान बातों की ओर ही संकेत किया जाता है। जिससे कहानी बहुत बढ़ न जाय और दूसरे चित्रों से उसका सम्बन्ध स्थापित करने में असुविधा न हो। किन्तु कुछ आगे चल कर एक बड़े से घटनात्मक अथवा प्राकृतिक चित्र को सामने रख कर उसके भिन्न भिन्न अंगों पर प्रश्न पूछ कर पूरे चित्र की व्याख्या द्वारा किसी घटना अथवा कहानी की ओर संकेत किया जाय और उसके शेषांश को बालकों से पूरा कराने का प्रयत्न किया जाय।

अभिनय—जैसा पीछे कहा गया है, सर्व प्रथम बालक अनुकरण द्वारा ही बातचीत करना सीखता है। इसलिये यदि उसके समक्ष वार्त्तालाप से भरे हुए अभिनय उपस्थित किये जायँ तो उसकी मौखिक भाषा को उत्साह और गति प्राप्त होती है।

नाटक द्वारा पाठबोध—कक्षा में कही हुई अथवा पुस्तक में पढ़ाई हुई किसी कहानी अथवा रोचक घटना को छोटे नाटक के रूप में उपस्तिथ करने से बालक के ऊपर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और वह यथासम्भव नाटक में अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य को और कही जाने वाली बात को अधिक आकर्षक तथा सुव्यवस्थित रूप से करने और कहने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में उसकी मौखिक भाषा का स्वतन्त्र और सुन्दर विकास होता है।

वादविवाद प्रतियोगिता—अत्यन्त प्राचीन काल से शास्त्रार्थ के रूप में वाद विवाद प्रतियोगिता चली आ रही है। बड़ा से बड़ा विद्वान भी कितना ज्ञान रखता है यह प्रायः उसके कहे हुए वाक्यों से प्रकट होता है। यदि वह अपने सारे ज्ञान-भण्डार को अपनी

मौखिक भाषा द्वारा श्रोता अथवा प्रतिपक्षी के सामने स्पष्ट नहीं कर देता तो उसके ज्ञान का महत्व बहुत घट जाता है। वादविवाद में सफल होना प्रायः अभ्यास पर निर्भर करता है। जिस व्यक्ति ने ज्ञान-भण्डार संचित किया है और जिसकी भाषा ओजस्वी तथा प्रगतिशील है, वह भी यदि बिना अभ्यास के वादविवाद में भाग ले तो अपने में स्पष्टीकरण तथा शीघ्र उत्तर ढूँढ़ सकने की योग्यता के अभाव का अनुभव करने लगेगा। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि हमारा बालक रुचिपूर्ण वादविवादों में भाग लेकर अपनी मौखिक भाषा को सशक्त बनाये और अर्जित किये हुए ज्ञान को अनुकूल परिस्थित उत्पन्न होने पर अपनी अमृतमय वाणी द्वारा उड़ेल दे।

प्रायः देखा जाता है कि वाद विवाद में झगड़े तथा मनमुटाव की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। इस अभिशाप से बालक को दूर रखने के लिए अध्यापक को प्रयत्नशील रहना चाहिये और सत्य असत्य, शुद्ध अशुद्ध अथवा उचित अनुचित के निर्णय के लिये आवश्यक व्यवस्था रखनी चाहिये।

कक्षा-प्रबन्ध-समितियाँ—बिना अध्यापक अथवा अभिभावक की सहायता के ही मौखिक भाषा के विकास में कक्षा-प्रबन्ध-समितियाँ महत्वपूर्ण सहायता पहुँचाती हैं। इन समितियों के सदस्य केवल अपने ऊपर ही सारा उत्तरदायित्व होने के कारण पूरे मनोयोग से आपस में विचार-विनिमय करते हैं। इस कार्य में उन्हें अपने विचारों को स्पष्ट करने तथा अनुभव को प्रयोग करने का अच्छा अवसर मिलता है। इसलिये अध्यापक को चाहिये कि कक्षा के प्रबन्ध का भिन्न भिन्न अङ्ग यथा—स्वच्छता, बैठने की व्यवस्था, अभ्यास पुस्तिका तथा कक्षा-पुस्तकालय आदि से सम्बन्धित कार्यों के लिये बालकों की अलग अलग समितियाँ बनाकर उन्हें अधिक से अधिक उत्तरदायित्व वहन करने को दें।

इसी प्रकार अन्ताक्षरी पद्य-प्रतियोगिता तथा गीत-प्रतियोगित द्वारा भी कभी कभी बालक की मौखिक भाषा को अधिक मनोरंजक तथा सुरुचिपूर्ण बनाते रहना आवश्यक है। किन्तु इन अवसरों पर इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि बालक सुन्दर शब्दों से युक्त, आशा-वादी तथा रचनात्मक गीतों और कविताओं की ओर ही आकर्षित हों, अश्लील, पलायनवादी तथा विध्वंसात्मक ग तों और कविताओं की ओर नहीं।

उच्चारण की शुद्धता और स्पष्टता—प्रथम अध्याय में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि हमारे पूर्वज भाषा के शुद्ध उच्चारण को आवश्यकता से अधिक महत्व देते थे। अशुद्ध और अस्पष्ट उच्चारण किसी भी शिक्षा-शास्त्री के मत के अनुकूल नहीं होगा किन्तु उच्चारण को कोई धार्मिक महत्व देना अथवा उसे जाति विशेष के लिये ही सम्भव और उचित समझना भाषा का गला घोंटना है। कुछ इसी प्रकार के कुविचारों के फलस्वरूप ही आर्यों ने अनार्यों को सुशिक्षित होने के सुयोग से वंचित रक्खा।

आज के युग में भी कुछ शिक्षक ऐसे हो सकते हैं जो बालक की प्रारम्भिक शिक्षा सम्बन्धी त्रुटियों से उत्पन्न उच्चारण के दोष को देख कर उसे समुचित शिक्षा के योग्य समझने में अस्वीकार कर दें। किन्तु ऐसे शिक्षकों को अदूरदर्शी ही कहा जायगा। विद्यार्थी में भाषा सम्बन्धी किसी भी दोष को देख कर उसके कारणों का अनुसन्धान करना शिक्षक का परम कर्तव्य है। बालक में उच्चारण सम्बन्धी दोष के निम्न लिखित कारण हो सकते हैं—

१—जिन लोगों के निकट सम्पर्क में बालक घर में रहता अथवा पड़ोस में खेलता कूदता है, उनमें कोई उच्चारण सम्बन्धी दोष हो सकते हैं, जिससे वह प्रभावित हुआ हो।

२—उसे प्रारम्भिक शिक्षा देने में उच्चारण की ओर आवश्यकता से कम सावधानी वर्ती गई हो।

३—संकोच तथा भय के कारण वह अपनी पूरी योग्यता का प्रयोग न कर पाता हो।

४—उसके उच्चारण-यन्त्र यथा-ओठ, तालु, तथा दाँत इत्यादि में कोई ऐसा विकार हो जो उसे उचित उच्चारण करने में बाधा पहुँचाता हो।

इनमें प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रकार के दोषों को दूर करने में अध्यापक को अधिक कठिनाई का सामना न करना पड़ेगा। चतुर्थ प्रकार का दोष सुधारने में अवश्य विलम्ब लगेगा किन्तु योग्य चिकित्सक तथा शिक्षक और अभिभावक के संघटित प्रयत्न से उसका दूर करना भी असम्भव नहीं है।

पहिले प्रकार के दोष को दूर करने के लिए अध्यापक और शिशु के अभिभावकों को सतर्क होना चाहिये कि जिस व्यक्ति के अशुद्धोच्चारण से बालक प्रभावित होता है उसके सम्पर्क में वह यथा सम्भव कम आये। किन्तु हो सकता है कि ऐसा दोष माता पिता अथवा अन्य सम्बन्धियों में हो, उस स्थिति में उनसे कम सम्पर्क रखना सम्भव ही नहीं हो सकता। हाँ इतना अवश्य हो सकता है कि वे भी उस दशा में अपने उच्चारण को यथासम्भव शुद्ध रखने का प्रयत्न करें और जितने शीघ्र सम्भव हो बालक को छात्रावास में भेज देने का प्रबन्ध करें। इन सब में से कुछ भी न हो सकने की अवस्था में भी शिक्षक को घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके द्वारा पाठशाला में किया गया प्रयत्न भी उस दोष के निवारण में समर्थ अवश्य होगा, हो सकता है उसमें अधिक विलम्ब लगे।

दूसरे प्रकार का दोष भी पहिले से मिलता जुलता है इसलिये उसके निवारण का पथ भी उर्ध लिखित ही है। अन्तर केवल यह

है कि नवीन शिक्षक को पहले शिक्षक द्वारा उत्पन्न किये गये दोष दूर करने में अधिक कठिनाई पड़ती है क्योंकि बालक को यह समझाना सरल नहीं है कि पहले अध्यापक ने जो सिखाया वह अशुद्ध था और अब जो सिखाया जा रहा है वह शुद्ध है। साथ ही किसी अध्यापक में ऐसा दोष होने का ज्ञान बालक के लिये हितकर भी नहीं है। इसलिये उत्तम यह है कि अध्यापक विद्यार्थी द्वारा कहे गये अशुद्ध और अपने द्वारा बताये हुए शुद्ध दोनों शब्दों को एक साथ न रख कर स्वयं केवल शुद्ध शब्द का उच्चारण करे और बालक द्वारा उसके अशुद्ध प्रयोग पर उसे यह बताये कि अमुक प्रकार से कहना अधिक सुन्दर है और एक दो बार स्वयं आदर्श उच्चारण करने के पश्चात् यथावश्यक कई विद्यार्थियों द्वारा अनुकरण कराये। कक्षा में एक ही प्रकार के उच्चारण वाले कई शब्दों का अभ्यास भी बालकों के उच्चारण-यन्त्रों पर अच्छा प्रभाव डालता है। ऊँची कक्षाओं में चलकर अशुद्ध और शुद्ध शब्दों को एक साथ उपस्थित करके तुलनात्मक अध्ययन तथा अभ्यास द्वारा उच्चारण सम्बन्धी दोषों का निराकरण करने में कोई हानि नहीं।

तीसरा दोष केवल अभिभावकों अथवा अध्यापक की असावधानी से ही उत्पन्न होता है क्योंकि यदि बालक को निर्भय और निःसंकोच होकर बोलने का उचित अवसर दिया जाय तो वह दोष कदापि उत्पन्न न हो। कितने ही अभिभावक बालक को इतने कड़े शासन में रखते तथा छोटी छोटी भूलों पर इस प्रकार रुष्ट होते और भय दिखाते रहते हैं कि वह अपनी छोटी से छोटी अत्यन्त आवश्यक बातों को भी उनके समक्ष कहते समय भयवश दब कर बोलता है। उसके शब्द पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो पाते। लम्बे समय तक ऐसा होते रहने के कारण उसके उच्चारण यन्त्रों के विकास की गति मन्द हो जाती है, जिसे शिक्षालय में चलकर उचित स्तर पर लाने में अध्यापक को

बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। पुराने ढंग के कुछ अध्यापक भी बालक को इसी प्रकार के अमनोवैज्ञानिक अनुशासन में रख कर उच्चारण सम्बन्धी अनेक दोष उत्पन्न कर देते हैं।

इस प्रकार के दोष को दूर करने के लिए अध्यापक को चाहिये कि वह बालक को भय और संकोच से मुक्त रख कर अधिक से अधिक बोलने का अवसर दे; विद्यार्थी से ऐसी मैत्री का भाव बढ़ाये कि उसके निकट कुछ भी कहने में उसे किसी प्रकार की हिचक न हो। ऐसे बालक को कक्षा में उस विद्यार्थी के निकट बैठाना चाहिये जिसका उच्चारण अधिक शुद्ध एवं स्पष्ट हो। उसे वाद-विवाद, अन्ताक्षरी आदि में बोलने को भी अधिक प्रोत्साहित करना चाहिये और यथा सम्भव कक्षा के प्रवन्ध आदि में अधिक भाग देना चाहिये—जिससे बोलने का कार्य उसे अधिक करना पड़े।

शब्द के अंग अथवा अक्षर विशेष की उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धि दूर कराना अधिक लाभदायक नहीं है। पूरे शब्द का शुद्धोच्चारण कराना तथा उस शब्द का भिन्न प्रकार के वाक्यों में प्रयोग द्वारा अभ्यास कराना मनोवैज्ञानिक और सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि विद्यार्थी बिना अर्थ समझे केवल रट रट कर किसी अशुद्धि को दूर करने में न सरलता पूर्वक सफल हो सकता है और न उस दोष से सर्वदा के लिये मुक्त। इसी लिए शब्दों अथवा वाक्यों के ठोस रूप या साकार अर्थ द्वारा ज्ञान कराने की क्रिया को अधिक महत्व दिया जाता है।

तात्पर्य यह कि अध्यापक अपने द्वारा उपस्थित किये गये उत्तम आदर्शों तथा बालक को दी गई श्रेष्ठतम सुविधाओं और अभिभावकों आदि के उचित सहयोग से बालक के उच्चारण सम्बन्धी दोषों को सरलता पूर्वक दूर कर सकता है। यदि प्रारम्भिक अवस्था में बालक के उच्चारण की ओर यथेष्ट सतर्कता वर्त्ती जाय तो पीछे वह

दोष उत्पन्न होने की शंका ही नहीं रहती और यदि किसी विशेष कारण से कुछ अंशों में हुई भी, तो उक्त विधियों द्वारा निस्सन्देह उसे समूल नष्ट किया जा सकता है।

वाचन तथा लेखन का आधार भी मौखिक भाषा ही है। अतएव उनके शुद्ध और स्पष्ट होने के लिए मौखिक भाषा की शुद्धि और स्पष्टता का ध्यान रखना अनिवार्य है।

अध्याय ४

वाचन-विकास

वाचन और लेखन—बोलचाल की भाषा का उचित विकास होने के पश्चात् बालक को वाचन सीखने की आवश्यकता पड़ती है। वाचन के विकास-क्रम में बालक धीरे धीरे लिखने की ओर भी उत्सुक होने लगता है जिसका आवश्यक ध्यान अध्यापक पहले से रखता है इसी बीच वह उसे लिखने की शिक्षा देना भी प्रारम्भ कर देता है। तत्पश्चात् बोल-चाल वाचन और लेखन तीनों कलाओं के सहयोग से उसकी शिक्षा की गति क्रमशः अधिक व्यवस्थित होती चलती है।

प्राचीन शिक्षण-विधि में वाचन की शिक्षा के पहले लिखने की शिक्षा देना प्रारम्भ कर देते थे जिससे बालक बिना रुचि अथवा बुद्धि का प्रयोग किये तोते की तरह रटना प्रारम्भ कर देता था, यथा—'एक गोलक बनाओ उसके आगे एक खड़ी पाई खींचो और उसके बीचोबीच से खींच कर एक पाई नीचे तक लटका दो।' यह है कबूतर वाला क। इसी प्रकार—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ अथवा त थ द ध न इत्यादि सिखाये जाते थे। तत्पश्चात् विद्यार्थी घोंट घोंट कर उन अक्षरों पर मात्रा लगाने का क्रम सीखता था; यथा—

कन्निकन्ने क;
कन्नुन का।
रेसौं कि ;
दुर्गौं की।
ताड़े कु ;
बाड़े कू। इत्यादि

यह सब बालक क्यों रटता था, यह उसके अध्यापक या अभिभावकों को ही विदित हो सकता था। उसे यह समझने की आवश्यकता न थी कि इस जिह्वा-साँसति का क्या प्रयोजन है। हाँ कुल मिलाकर उसे इतना अवश्य ज्ञान था कि वह स्कूल में पढ़ने आया है इसलिए अध्यापक जो जिस प्रकार कहे उसे उसी प्रकार करना पड़ेगा।

अब मनोविज्ञान के युग में बालक की रुचि को जाग्रत करते तथा उसे लेखन की आवश्यकता का अनुभव कराते हुए लेखन की शिक्षा दी जाती है। चूँकि शब्दों का ध्वन्यात्मक परिचय उसे पहले प्राप्त होता है इसलिए वाचन के सहारे लेखन सीखना उसके लिए अधिक सुविधाजनक है न कि लेखन के सहारे वाचन। 'कबूतर'वाले 'क' के लिए पहले गोला बनाकर खड़ी पाई से सटाने और आधी पाई लटकाने का काम वह पीछे से अपने आप कर लेता है, जब कई बार लिखित रूप में कबूतर शब्द और उसके चित्र आदि (शिक्षण-सहायक-सामग्रियों) से उसका साक्षात्कार हो जाता है।

अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि चार या छ भाषाओं को पढ़ना यदि हम चार या छ सप्ताह में सीख लेते हैं तो उन्हें लिखना चार छ महीनों में सीख सकेंगे। हम में से अनेक ऐसे हैं जो अनेक भाषाओं को पढ़ सकते हैं किन्तु उन सब में लिखने का कार्य नहीं

कर सकते। इससे स्पष्ट है कि वाचन-विकास के पश्चात् ही लेखन का विकास होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त पढ़ने में भूले हुए अक्षर उतनी बाधा नहीं पहुँचाते जितनी लिखने में यथा—'कबूतर' शब्द में यदि विद्यार्थी पूर्व ज्ञान के आधार पर 'कबूत' पढ़ ले और र में भ्रम होने लगे तो वह कल्पना से र उसमें जोड़कर सफल हो जाता है। किन्तु यदि वह 'कबूतर' लिखने बैठे और उसे र अक्षर भूल जाय तो बड़ी कठिनाई होती है क्योंकि उसे कबूतर शब्द की ध्वनि तथा उसमें प्रत्युक्त लिपि दोनों का ध्यान रखना पड़ता है। यह स्थिति भी पहले वाचन सिखाने के पक्ष में है।

कल्पना के पश्चात् बात, घटना अथवा कक्षा का अनुमान और प्रसंग भी उसे वाचन की पहले सुविधा देकर लेखन की ओर प्रोत्साहित करते हैं न कि इसके विपरीत।

वाचन का महत्व—वाचन की समुचित शिक्षा विद्यार्थी के भावी अध्ययन तथा जीवन में निम्नांकित रूप से अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है:—

१—किसी बात को अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकने की शक्ति का विकास।

२—शिक्षक अथवा अभिभावक द्वारा वांछित सुविचारों की टेव में वृद्धि।

३—वृहत्तर विषयों के ज्ञान का उत्साह।

४—व्यक्ति के विकास में स्थायित्व।

इस महत्व के सूक्ष्म रूप का बोध हमारे पूर्वजों को भी अवश्य था अन्यथा ईसाइयों ने बाइबिल, मुसलमानों ने कुरान तथा हिन्दुओं ने वेद-मन्त्रों को बिना लिखने का प्रयत्न किये ही रट कर याद कर लेने पर जोर न दिया होता।

वाचन और पठन—सामान्य रूप से वाचन और पठन शब्दों द्वारा लोग एक ही क्रिया का बोध करते हैं—ध्वन्यात्मक संकेतों के लिपि वद्ध रूप को देखकर (आँख वालों के लिए) अथवा छूकर (अंधों के लिए) उनका अर्थ समझ लेना। किन्तु वाचन और पठन दोनों कुछ भिन्न कार्य की स्थितियों के सूचक हैं।

वाचन सस्वर पठन का नाम है, वह चाहे स्वयं सुनने के लिए हो या दूसरों को सुनाने के लिए हो। वाचन में जो कुछ पढ़ा जाता है उसका बोध वाचक को होता है या नहीं यह निश्चित नहीं है किन्तु पठन का कार्य निश्चित रूप से बौद्धिक है।

जब हम बालक को वाचन की शिक्षा देते हैं तो इस बात की ओर अधिक ध्यान देते हैं कि उसका उच्चारण शुद्ध हो, शब्द समूहों के क्रम व्यवस्थित हों, स्वर भाव के अनुकूल हो, विराम अथवा अल्पविराम आदि का ठीक ध्यान दे और उसके साथ ही पाठ्य विषय को यथासम्भव समझता भी चले किन्तु पठन में आत्म शिक्षण का भाव अधिक है उससे ठीक प्रकार भाव को ग्रहण कर लेने की ही अधिक आशा की जाती है। वह अधिकांश मौन होता है और आत्मशिक्षण तथा आत्मश्रवण के लिए ही कभी कभी सस्वर।

यह सब होने पर भी वाचन को पठन से अधिक महत्व दिया जाता है। उसका कारण यह है कि जब तक हम शुद्ध और स्पष्ट वाचन करने में अभ्यस्त न हो जायँगे हमारे पठन के कार्य की सफलता सन्दिग्ध रह जायगी। यथा 'अयोध्या के राजा प्रजा-समादर में लीन रहते थे' का वाचन करने में बालक निम्नलिखित क्रम से पढ़ना सीखता है:—अयोध्या के राजा। प्रजा-समादर में। लीन रहते थे। इस प्रकार वाचन के अभ्यास के पश्चात पठन में वह ठीक अर्थ समझने में अधिक सफल होगा। किन्तु वाचन-

शिक्षण के बिना ही यदि पठन कार्य में लग जायगा तो निम्नलिखित क्रम से पढ़ लेना और अर्थ समझने में भूलकर जाना असम्भव न होगा:—अयोध्या के राजा प्रजा। समादर में लीन। रहते थे।

इसी प्रकार वाचन के समय यदि उसने अपने उच्चारण को शुद्ध नहीं कर लिया है तो पठन के समय साख (जिसका अर्थ प्रमाण होता है) को शाख (जिसका अर्थ वृक्ष की डाल है) समझने के भीषण भ्रम में पड़ जा सकता है।

इन आवश्यकताओं के अतिरिक्त उसे कभी-कभी सभा समितियों की कार्यवाही पढ़कर सुनाने, प्रस्ताव तथा संदेश और अभिनन्दन पत्र आदि वाचन द्वारा ही श्रोता के समक्ष उपस्थित करने की आवश्यकता पड़ती है। उस अवस्था में यदि उसकी वाचन-कला का सुन्दर विकास नहीं हुआ है तो वह अपना काम बिगाड़ने के साथ ही समाज की हँसी का पात्र बन जायगा।

अब अनुभव तथा मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वाचन-शिक्षा को ग्रहण करने के लिए बाध्य किया हुआ बालक वाचन द्वारा उचित लाभ नहीं उठा पाता और इसके साथ ही उसकी शिक्षा प्रति की गति भी धीमी होती है। इसलिए इस कार्य में स्वर साधने के साथ ही भाव-ग्रहण और स्पष्टीकरण में प्रवीण होने के लिए यह आवश्यक है कि हम वाचन की ओर उसकी रुचि को जाग्रत करके सरस वाचन-विधियों द्वारा उसका आकर्षण इतना बढ़ायें कि वह स्वयं सुपठन में अपना आनन्द और हित समझने लगे।

वाचन-शिक्षा में नवीन दृष्टि—आज के शिक्षा-शास्त्रियों ने वाचन-शिक्षा के उद्देश्यों विधियों, और फलों में अनेक प्रकार के परिवर्त्तनों का समावेश करके उसकी कायापलट कर दी है। यहाँ हम सस्वर तथा मौन दोनों प्रकार के पठन को वाचन के नाम से

पुकारेंगे क्योंकि अब उनके गुणों और उनकी आवश्यकताओं में नगण्य अन्तर समझा जाता है

१—अभ्यासात्मक से कलात्मक दृष्टि—पहिले वाचन क्रिया में निपुणता प्राप्त करना केवल सतत् अभ्यास का फल समझा जाता था और उसकी आवश्यक सफलता स्कूल की पाठ्य पुस्तकें पढ़ लेने मात्र तक ही सीमित थी। आज का बालक वाचन-क्रिया की सफलता के पीछे अपना निश्चित ध्येय रखता है। वह पढ़कर विचार एकत्रित करना चाहता है; अपने अनेक प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ना चाहता है और कथा कहानी आदि पढ़ी जाने वाली वस्तु का आनन्द उठाना चाहता है। कम से कम प्रारम्भिक दो कक्षाओं के पश्चात् तीसरी में पहुँचने पर तो अवश्य ही उसका झुकाव इन बातों की ओर हो जाता है और आगे सर्वदा बना रहता है।

बींते युग के विद्यार्थी उत्तम सस्वर पाठ करना इसलिए उचित समझते थे कि उनका अध्यापक सुनकर यह भली भाँति समझ जाय कि विद्यार्थी उस पठित भाग में आये हुए कठिन से कठिन शब्दों से अच्छी प्रकार परिचित हो गया है, उसने अवश्य आज्ञानुसार अभ्यास किया है आदि, अन्यथा वह शिक्षक द्वारा प्रताड़ित, दण्डित या लज्जित किया जाता। किन्तु आज का बालक सुन्दर और शुद्ध सस्वर पठन इसलिए करना चाहता है कि उसके सहपाठी भी अपने अपने प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने में सफलता प्राप्त करें; जो आनन्द उस अंश को पढ़कर उसे प्राप्त हुआ है, वह वे भी उठाएँ; जो विचार उसने उस पठन से एकत्रित किया है वह वे भी कर सकें और आपस के प्रश्नोत्तर या वाद-विवाद में उसे अपने सहपाठियों के सामने अपने पक्ष के स्पष्टीकरण का सुयोग प्राप्त हो।

मौन पठन में (जैसा ऊपर कहा गया है) इसलिए दत्तचित्त होता है कि अपनी समस्याओं का समाधान कर सके, अपने प्रश्नों

का उत्तर प्राप्त कर सके और पठित बात का आनन्द उठा सके। इस प्रकार वाचन अब अभ्यासात्मक न होकर कलात्मक हो गया है।

२ व्यापकता—बीते युग में वाचन का कार्य स्कूल के कुछ विशेष घण्टों तक ही सीमित रहता था, किन्तु आज वह पूरे पाठ्य क्रम में व्यापक हो गया है। जहाँ और जिस अवस्था में वह पढ़ने का कार्य करता है, वहीं उसकी उस कला में आवश्यकतानुकूल पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता रहता है। प्रत्येक विषय के घण्टे में वस्तुओं के संकलन, समस्याओं के समाधान, विचार के एकत्रीकरण आदि की आवश्यकता पड़ती ही रहती है, जिससे बालक के उस विषय के ज्ञान में वृद्धि होने के साथ सुपठन में भी उन्नति होती रहती है।

३ व्यक्तित्व का विकास—बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में भी उसकी वाचन-कला बड़ी सहायता पहुँचाती है। आज के मनोवैज्ञानिक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि एक ओर वाचन सम्बन्धी कठिनाइयों के उचित प्रकार से दूर न किये जाने का फल कितने ही बालकों में भावुकता सम्बन्धी अभाव के रूप में देखने को प्राप्त होता है और दूसरी ओर वाचन की ओर अत्यधिक झुकाव होने से कभी कभी आवश्यकता से अधिक भावुकता भी उनमें आ जाती है।

४—प्रोत्साहन—बालक को वाचन-शिक्षा देने से पहिले वाचन की ओर प्रोत्साहित करके उसका ध्यान उधर आकर्षित कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। कितने ही ऐसे बच्चे जिनको बल पूर्वक वाचन सिखाने का प्रयत्न किया जाता है, उससे चिढ़ जाते हैं और भविष्य की शिक्षा में भी उन्हें वाचन के प्रति ऐसी घृणा अथवा पलायन की मनोवृत्ति बन जाती है जो जीवन में उन्हें बड़ी हानिकर सिद्ध होती है। इसलिए सभी बालकों के प्रारम्भिक पाठ्य-क्रम में वाचन-शिक्षा का होना तब तक अनिवार्य नहीं है जब तक अनेक प्रकार के वाचन-शिक्षा-साधनों द्वारा उन्हें उसकी ओर प्रेरित न कर

लिया जाय। पढ़ना सिखाने के अतिरिक्त अनेक अन्य मनोरंजक और लाभदायक कार्यों की शिक्षा इसी बीच उन्हें दी जा सकती है।

५—विचार की इकाई—ध्वनि, अक्षर और शब्द प्रारम्भिक वाचन-शिक्षा के लिए असम्बद्ध और नीरस सामग्रियाँ हैं जो बालक के मस्तिष्क को सक्रिय बनाये बिना ही उसे रटने के लिये वाध्य करती हैं। इसलिए विचार की इकाई अर्थात् वाक्य, वाक्यांश या विचारोत्पादक शब्द समूह ही उसको वाचन की ओर उत्साहित कर सकते हैं और उन्हीं की सहायता लेना हितकर है।

६—भिन्न विधियाँ—सभी बालकों के लिए अनिवार्य रूप से एक ही वाचन-शिक्षा-विधि का प्रयोग करना लाभदायक नहीं है। आवश्यकता के अनुकूल और पहली विधि के प्रतिफलों को ध्यान पूर्वक देखते रह कर यथासम्भव परिवर्त्तन करते रहना उचित है।

७—व्यक्तिगत सहायता—अध्यापक बालक के पाठ्यक्रम में जहाँ सुपठन की आवश्यकता का अनुभव करे वहीं वाचन के नियमों को काम में लाये। उन्हें केवल वाचन के घण्टे के लिए सीमित न रक्खें अन्यथा बालक उसका उचित महत्व समझने में असफल रह जाते हैं। इसके साथ ही बालक की व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुकूल उसकी पाठ्य सामग्री तथा सुधार-व्यवस्था का यथासम्भव ध्यान रखना भी आवश्यक है।

८—पुस्तकालय आदि की ओर झुकाव—बीते युग में जहां विषय की एक दो पुस्तकें ही विद्यार्थी के वाचन और अध्ययन के लिए यथेष्ट समझी जाती थीं, वहाँ अब पाठशाला के अतिरिक्त प्रत्येक कक्षा में एक ऐसे पुस्तकालय की आवश्यकता स्वीकार करली गई है, जिसमें विद्यार्थी को अपने भिन्न भिन्न विषयों की तथा एक ही विषय की भिन्न लेखकों और विधियों द्वारा लिखी अनेक पुस्तकों के सम्पर्क में रहने की सुविधा प्राप्त हो और वह इच्छानुकूल वाचन द्वारा पूरा

लाभ उठा सकें, तथा उनसे विचार प्राप्त करके यथासम्भव अपना भावी पथ निर्धारित करने में सहायता प्राप्त कर सकें।

वाचन कला के आवश्यक गुण—वाचन-कला में प्राप्त होने वाले लाभों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। पूर्ण उपयोगिता की दृष्टि से हम इस कला में विद्यार्थी को दक्ष बनाने के लिए उसमें निम्नांकित गुण और सुटेव लाने का यत्न करें तो उन्हें अधिक लाभ हो—

१—मौन पठन—पुस्तक तथा पत्र-पत्रिकाएं आदि पढ़ने में मन लगाने की टेव।

२—यह समझने की शक्ति उत्पन्न करना कि पठन से ज्ञान और अनुभव की वृद्धि सब से अधिक शीघ्र सम्भव है।

३—उन्हें इस बात का आदी बना देना कि वे जो कुछ पढ़ें उसे समझें और अपने स्वतंत्र ज्ञान के आधार पर अपनी बुद्धि द्वारा उसका अर्थ निकाल कर स्वतंत्र प्रकार से प्रयोग करें, जिससे उनके उस ज्ञान को अनुभव के रूप में परिणत हो जाने का अवसर प्राप्त हो।

४—पढ़ने और समझने की गति में क्रमशः तीव्रता की वृद्धि के साथ ही, विराम, पूर्ण विराम, परिच्छेद, अनुच्छेद तथा प्रसंग आदि की आवश्यकता और उनको उचित महत्व देने की टेव।

सस्वर पठन—१—उनमें ऐसी उत्तम कोटि की कहानियों, कविताओं, नाटकों तथा अन्य प्रकार के गद्यांशों को चुन सकने की क्षमता उत्पन्न करना जो श्रोता अथवा विषय से सम्बन्धित अन्य लोगों के मनोनुकूल हों।

२—किसी बात का सस्वर पठन करने से पहिले उसे शीघ्रातिशीघ्र सरसरी दृष्टि से देखकर उसके वांछित अर्थ के सम्बन्ध में निश्चय करके ही दूसरों के सामने विश्वस्त होकर प्रकट करने का अभ्यास।

३—बात, स्थिति और तात्पर्य के अनुकूल अपनी ध्वनि और भाव को साध कर पढ़ने की टेव।

इसी प्रकार किसी पुस्तक या पत्र-पत्रिका में लिखित तथ्य की मीमांसा तथा गम्भीर अध्ययन करने के लिए भी विद्यार्थी में अनेक प्रकार के गुण और सुटेव डालना आवश्यक है।

मीमांसा—१—किसी बात का अधिक से अधिक उचित मूल्य तभी लगाया जा सकता है जब विद्यार्थी विषय के लेखक की लिखते समय की मानसिक अवस्था का पूर्ण स्वरूप, उसके साधनों की सीमा, उसकी परिस्थितियों का प्रभाव तथा उसका दृष्टिकोण भली प्रकार समझ लें।

२—उसके विचारों से कम से कम पढ़ते समय तक पूरी सहानुभूति रखकर अपने को पूर्णरूप से तन्मय हो जाने दें।

३—प्रकारान्तर से अनेक पुस्तकों का अवलोकन करते रहें और उनकी मीमांसा का एक तुलनात्मक स्तर निर्धारित कर लें।

अध्ययन—किसी विषय का गम्भीर पठन अथवा अध्ययन उचित रूप से तभी सम्भव है जब विद्यार्थी—

१—अपने उद्देश्य और प्रयोजन को निश्चित सीमा में बाँध कर, मस्तिष्क में पहिले ही संचित करके पढ़ना प्रारम्भ करें।

२—उस उद्देश्य और तथ्य के अनुकूल पढ़ने की आवश्यक शैली का ध्यान रक्खें।

३—विभिन्न अनुच्छेदों में वर्णित प्रधान विचार-धारा का ज्ञान रखकर भावों का संकलन करते हुए, कथन का विश्लेषण करते हुए, वांछित ज्ञान का ठीक चुनाव करते हुए और मीमांसा तथा यथोचित आलोचना करते हुए निष्कर्ष पर पहुंचने का अभ्यास करें।

पठन सम्बन्धी संकलित सामग्री जैसे पुस्तकालय की पुस्तकों

और पत्रादि को ठीक प्रकार से पढ़कर अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि—

१—विद्यार्थी मनोरंजन तथा ज्ञानार्जन दोनों ही प्रकार के पठन के निमित्त पुस्तकालय की पुस्तकों का सहारा लेने की टेव डालें।

२—अपनी विभिन्न समस्याओं के समाधानार्थ विभिन्न साधनों के प्रयोग का ध्यान रक्खें।

३—वांछित विषय की पुस्तक ढूँढ़ सकने की आदत डालें।

४—कठिन शब्दों तथा प्रसंगादि के निमित्त शब्द-कोषों और ज्ञान-कोषों के उचित प्रयोग का अभ्यास कर लें।

५—पुस्तकों तथा पत्रादि को भद्दे निशान लगाने तथा मैले कुचैले हाथों से छूने की कुटेव से दूर रख कर ठीक प्रकार हाथ से पकड़ने अथवा सुरक्षित रखने की आदत डालें।

पढ़ना सीखने का क्रम—पीछे इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है कि आज का विद्यार्थी ज्यों ही पढ़ना सीख जाता है त्यों ही वह सीखने के लिए पढ़ना प्रारम्भ कर देता है। वह बिना कुछ ढूँढ़ने या सीखने की बात ध्यान में रक्खे साधारणतः पुस्तक को उठाता ही नहीं। इसे हम अति सीमित अर्थों में ज्ञानार्जन के लिए पठन कहें तो अनुचित न होगा। ऊपर विद्यार्थी में जिन गुणों और सुटेवों के डालने की बात कही गई है वे 'पढ़ना सीखने'—के सम्बन्ध में है। वाचन-शिक्षा का मूलोद्देश्य सीखने (ज्ञानार्जन) के लिए पढ़ना है किन्तु वह पढ़ना सीख लेने के पश्चात् ही सम्भव है। इसलिए हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वस्तुतः पढ़ना सीखने की प्रगति में बालक प्रायः किस निश्चित क्रम से चलता है। बीते युग की पाठशालाओं के अध्यापक उसके इस क्रम को तनिक भी महत्व न देकर उसके लिए भिन्न भिन्न कक्षाओं में भिन्न प्रकार के पाठ्य क्रम पहिले से ही निर्धारित कर देते

थे। पाठ्यक्रम की उस सीमा तक समय की उसी सीमा में ही पहुँच जाना आगे बढ़ने के लिए अनिवार्य था। बालक पढ़ने में सफल तभी समझा जाता था जब एक प्रकार की सीमा में बँधकर दूसरे प्रकार की सीमा तक अपने को पहुँचा दे। किन्तु आज के अनुसन्धान और विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रयोगों ने स्थिति को परिवर्त्तित कर दिया है। यह स्पष्ट हो गया है कि एक ही समय में एक ही प्रकार के ज्ञान को प्राप्त कर लेना सभी बालकों के लिए सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त उनमें ऊपर कहे गये गुणों की उत्पत्ति के लिए अपेक्षाकृत अधिक समय की आवश्यकता है। साधारणतः पढ़ना सीखने का क्रम निम्नांकित रूप से चलता है:—

१—सरल बातों के उचित अर्थ-बोध का क्रम प्रारम्भिक कक्षाओं से चलकर चौथी कक्षा तक उन्नत दशा को पहुँच जाता है और विद्यार्थी का बोधस्तर यथेष्ट ऊपर उठ जाता है।

२—कठिन बातों को समझने का अभ्यास तथा भिन्न उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर पढ़ने का कार्य उच्च पाठशालाओं में चलकर ठीक प्रकार सम्भव होता है।

३—मौन पठन की गति प्राथमिक कक्षाओं में तीव्रता से विकसित होती है, किन्तु आगे चलकर (उच्च कक्षाओं में पहुंचने पर) उसकी वृद्धि की वह गति कुछ मन्द पड़ जाती है।

४—सस्वर पठन की भी ठीक यही दशा है। कक्षा पाँच (उत्तर प्रदेशीय प्राथमिक पाठशाला) में पहुँच कर जिस बालक का सस्वर पठन जितना सुन्दर बनना सम्भव है, बन जाता है। कुल का ७५ प्रतिशत वह यहाँ तक पहुँच कर प्राप्त कर लेता है। उसके पश्चात् साधारणतः बहुत बड़े परिवर्त्तन की आशा नहीं की जा सकती। इतना ही नहीं, पढ़ना सीखने की क्रिया के सन्तुलित विकास की

जो गति ४-५ कक्षाओं तक रहती है उससे कम ही ऊँची कक्षाओं में रह जाती है।

प्रसिद्ध योरपीय विदुषी श्रीमती 'ग्रे' ने इस क्रम को इस प्रकार दिया है:—

१—पढ़ना सीखने के ठीक पूर्व की उत्सुकता।

२—पढ़ना सीखने में प्राप्त किए हुए आवश्यक प्राथमिक पथ-प्रदर्शन का उपयोग।

३—पढ़ने के आवश्यक गुणों और आदतों का विकास! (कक्षा ४-५ उत्तर प्रदेशीय प्राथमिक पाठशाला)।

४—अनुभव-वृद्धि के साथ ही पढ़ने की शैली में उन्नति (कक्षा ६ से ८ तक जूनियर हाईस्कूल, उत्तर प्रदेश)

५—पढ़ने में चाव की वृद्धि, विषयों के सुन्दर चुनाव की योग्यता आदि आदतों का परिष्करण (कक्षा ९ से १२-उत्तर प्रदेशीय हायर सेकेन्डरी स्कूल तथा आगे)।

प्रथमावस्था—पढ़ना सीखने से पूर्व की बालक की उत्सुकता को उचित रुप से जाग्रत करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी मौखिक भाषा पढ़ना सीखने के ठीक पूर्व तक शक्तिशाली हो जाय, अन्यथा वह पढ़ने की ओर पूरी इच्छा से नहीं झुक सकेगा। छोटे-छोटे अनेक प्रकार के बालकोचित कार्यों का अनुभव हो जाना उसके क्रमिक विकास के लिए आवश्यक है। उसकी पठन-सामग्री में ऐसी ही बातों का समावेश होना चाहिए जिनके विषय में वह अपने चारो ओर के वातावरण के अनुकूल अपने कुछ न कुछ अनुभव अवश्य रखता हो, अन्यथा वह जो कुछ पढ़ेगा उसका अर्थ न समझ सकेगा।

इसके अतिरिक्त उसके साधारण स्वास्थ्य तथा देखने, सुनने और बोलने की शक्तियों (इन्द्रियों) का उचित अवस्था में होना भी

आवश्यक है। तत्सम्बन्धी किसी दोष को प्रारम्भ में ही दूर करने प्रयत्न करना चाहिए।

इस अवस्था में उसकी वाचन-कला निम्नांकित क्रम से विकसित होती है—

१—उनके अनुभवों की वृद्धि।

२—विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा।

३—वांछित अर्थ वाले वाक्यों का प्रयोग।

४—शब्द-भण्डार की वृद्धि।

५—शुद्धोच्चारण तथा ठीक अर्थ समझने का अभ्यास।

६—पढ़ने और समझने के अन्तर का ज्ञान।

७—चाव पूर्वक पढ़ने और पाठशाला के वातावरण में अपेक्षाकृत अधिक प्रसन्न रहने की आदत।

द्वितीयावस्था—वाचन-विकास की दूसरी अवस्था में विद्यार्थी-

१—स्वतंत्र रूप से पढ़ने का अभ्यास करने लगता है और इच्छानुकूल प्राप्त की गई पुस्तक या पत्रादि को पढ़ने में तन्मय हो जाता है।

२—अब वह प्रायः बिना ओठ हिलाये ही मौन पठन सफलतापूर्वक करने लगता है।

३—पठन द्वारा अर्जित ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जिज्ञासा प्रकट करने लगता है और कभी कभी वाद-विवाद करने में भी उसे आत्म-तुष्टि का अनुभव होता है।

४—अधिक देर तक पढ़ने का कार्य कर सकता है और पहले से बड़े अनुच्छेदों को पढ़कर निष्कर्ष निकालने में घबड़ाता नहीं।

५—उसके सस्वर पाठ की शैली अभिव्यंजना पूर्ण हो जाती है।

६—अपरिचित शब्दों का भाव समझने के लिए शब्द-कोष आदि का समुचित प्रयोग कर सकता है।

७—व्याकरण सम्बन्धी संकेतों—सम्बोधन और प्रश्न आदि का ठीक ध्यान रखता है।

तृतीयावस्था—द्वितीयावस्था की समाप्ति के पश्चात् और तृतीयावस्था की समाप्ति के पहिले विद्यार्थी—

१—पूर्ण रुप से स्वतंत्र होकर पढ़ने लगता है।

२—पठित विषय का अन्य विषयों से ठीक सम्बन्ध स्थापित करने लगता है।

३—पढ़ने के प्रयोजयीय विषयों की खोज करने लगता है।

४—सस्वर के स्थान पर मौन पाठ में उसका अधिक मन लगता है।

५—अपरिचित शब्दों का अर्थ परिचित शब्दों के सम्बन्ध से ही समझ लेने में सफल हो जाता है।

६—'क्या पढ़ें' और 'क्या न पढ़ें' इसका उसे विवेक हो जाता है।

चुतुर्थावस्था—

इसके पश्चात् वह—

१—पठन द्वारा मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से परिचय प्राप्त करने लगता है।

२—मनोरंजन तथा ज्ञानार्जन दोनों ही उसके पठन के प्रिय उद्देश्य बन जाते हैं और इनके निमित्त वह पढ़ने में नियमित रुप से समय लगाता है।

३—नये शब्दों के शुद्धोच्चारण में उसे कठिनाई नहीं होती।

४—वाचन की गति तथा समझ सकने का अभ्यास पूर्णता को प्राप्त होते है।

५—शब्द-भण्डार इतना बढ़ जाता है कि वह किसी शब्द के परिवर्त्तित रुप का अर्थ विना कोष देखे ही समझ लेता है।

६—पुस्तकों का महत्व और उनका उचित प्रयोग उसे भली प्रकार विदित हो जाता है।

पंचमावस्था—वाचन-विकास की अन्तिम अवस्था में पहुँचकर वह—

१—ज्ञानार्जन और तथ्य-संकलन के निमित्त अनेक प्रकार के पुराने और नये ग्रन्थों, पत्र पत्रिकाओं, कलाकारों तथा शास्त्रियों के विचारों को एकत्रित करने में बड़ा आनन्दित होता है।

२—वर्तमान कालीन अध्ययन से भविष्य के विषय में ठीक प्रकार विचार निश्चित कर सकता है।

३—उसकी सभी आदतें उस परिपक्वावस्था को पहुँच जाती हैं जिसके पश्चात् उनमें अधिक परिवर्तन कम सम्भव रह जाता है।

४—सभा, समितियों तथा विद्यार्थियों और जन साधारण के समक्ष सफलता पूर्वक स्पष्ट वाचन निःसंकोच होकर कर सकता है।

५—उसमें दूसरों को वाचन सम्बन्धी सभी गुणों से अवगत कराने की क्षमता आ जाती है। वह प्रायः तत्सम्बन्धी सभी भूलों का सुधार सफलता पूर्वक कर सकता है।

६—वाचन के पूर्ण कलात्मक स्तर तक पहुंच जाता है।

सीखने के लिये पढ़ना—अब तक जो कुछ कहा गया, वह पढ़ना सीखने के सम्बन्ध में था। अब आगे हम इस बात पर विचार करेंगे कि सीखने के लिए पढ़ने में विकास का क्या क्रम है। पीछे हम यह भी कह चुके हैं कि जहाँ कहीं भी पढ़ना सीखा जाता है वहीं सीखने के लिए पढ़ने का काम भी किसी न किसी रूप में होता रहता है। उत्तर प्रदेश की वर्तमान प्राथमिक पाठशालाओं की शिक्षा को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि कक्षा ४ के अन्त और ५ के प्रारम्भ से स्पष्ट रूप में सीखने के लिए पढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। इस स्तर तक वाचन-कला के ऐसे गुण उसमें आ जाते हैं, जो उसके

सीखने के लिए पढ़ने का कार्य स्पष्ट रूप से आरम्भ कर देते हैं। सीखने के लिए पढ़ने का क्रम निम्नांकित होता है :— .

तथ्य और प्रसंगादि की खोज के लिए पढ़ना—अध्यापक जिस तथ्य या प्रसंग को जिस स्थान से पढ़ने की आज्ञा देता है, उसे वहाँ से ढूँढ़ कर विद्यार्थी पढ़ लेता है। इसके साथ ही उससे सम्बन्धित अन्य बातें भी कक्षा-पुस्तकालय की दूसरी पुस्तकों से खोजकर निकाल लेना उसके लिए सम्भव हो जाता है। इस अवस्था में—

१—वह पुस्तक में पढ़ी जाने वाली बात की रुचि पूर्वक खोज करने लगता है।

२—विषय-सूची का ठीक प्रयोग करने लगता है।

३—चित्र तथा मानचित्र आदिका महत्व समझने लगता है।

४—छोटे मोटे पुस्तकालय की आवश्यकता अनुभव करने लगता है।

कुछ और आगे चल कर (६–७) वह शब्द कोष, ज्ञान-कोष, भू-चित्रावली, रेलवे टाइम टेबुल आदि का प्रयोग सीखने के लिए उत्साहित होता है और कक्षा ७ के अन्त तक उसमें आवश्यक सफलता प्राप्त कर लेता है। अतएव उसको उक्त योग्यता तक सरलता पूर्वक पहुंचा देने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसमें निम्नांकित गुणों की उत्पत्ति करने का यथाशीघ्र प्रयत्न करें :—

१—किसी शब्द को किसी क्रमिक सूची में नियमानुकूल ढूँढ़ लेने की योग्यता।

२—बड़े शीर्षकों में से छोटे शीर्षक और उनमें से आवश्यक अनुच्छेदों को ढूढने की योग्यता।

३—सहायक पुस्तकों के प्रयोग की योग्यता।

४—संकेतों और अप्रत्यक्ष प्रसंगों के समझने की योग्यता।

आवश्यकता के अनुकूल विचारों के चुनाव के लिए पढ़ना— जब वह सूची आदि की आवश्यकता से वांछित विषय को ढूँढ लेता है तो इस दिशा में आगे बढ़ता है कि कुल सामग्री में से कौन बातें उसके काम की हैं कौन नहीं। वह सतर्क रहना चाहता है कि कोई ऐसी महत्व पूर्ण बात भूल न जाय जो उसकी समस्या के समाधान में अच्छी सहायता पहुँचा सकने की क्षमता रखती हो। इस योग्यता की प्राप्ति के लिए उसमें निम्नांकिता गुण उत्पन्न करने की आवश्यकता है :—

१—पठन-कार्य के साथ साथ चिन्तन-कार्य इस प्रकार करते रहना कि वह जिस समस्या का समाधान चाहता है वह समस्या पढ़ते समय मस्तिष्क से निकल न जाय।

२—प्रधान समस्या से सम्बन्धित गौण समस्याओं का मूल्यांकन करते रहने की योग्यता।

३—उपस्थित समस्या तथा पठित तथ्य की समता और भिन्नता समझ सकने की योग्यता।

४—पर्य्याय वाची शब्दों तथा लोकोक्तियों के संकेत आदि का ध्यान रखने की क्षमता।

५—पठित विषय की सत्यता और उपयोगिता की छानबीन कर सकने की योग्यता।

तथ्यों को सुव्यवस्थित करने के लिए पढ़ना—जब वह आवश्यकता के अनुकूल तथ्यों को ढूँढ लेता है, अत्र तत्र बिखरे हुए ज्ञान को चुन चुन कर एकत्रित कर लेता है और उसकी सत्यता तथा प्रामाणिकता की छानबीन कर लेता है तो इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह उन तथ्यों को एक व्यवस्थित क्रम में संगठित करें। इस कार्य के लिए उसमें निम्नांकित गुणों को उत्पन्न करना आवश्यक है—

१—पूरे विचार या भाव के केन्द्र-विन्दु की परख।

२—अपने विषय के पक्ष में होने वाले तथ्यों का संकलन और विपक्ष में होने वाले तथ्यों का त्याग।

३—जिन साधनों से खोज या अनुसन्धन में सहायता मिली, उनकी उचित प्रकार से चर्चा करने की क्षमता।

४—विचार-शृंखला को बीच में कहीं असम्बद्ध होने से बचाने की क्षमता।

५—अन्त में ठीक निष्कर्ष पर पहुँच सकने की योग्यता।

विचार की स्मृति स्थायी बनाने के लिए पढ़ना—जब विद्यार्थी उक्त सभी अवस्थाओं को पार कर लेता है तो जिन विचारों को वह स्मरण रखना चाहता है उन्हें पुनः पुनः पढ़कर स्थायी बनाता है। इस कार्य में उसे सफल बनाने के लिए उसमें निम्नांकित गुण पैदा करना श्रेयस्कर है :—

१—कलात्मक विधि के स्थान पर विचारात्मक विधि द्वारा तथ्य को समयान्तर से पढ़-पढ़ कर प्रधान समस्या से बार-बार सम्बन्धित करते रहना।

२—संकलित प्रधान शीर्षकों को देखकर उनसे सम्बन्धित तथ्यों को बिना पुनः पढ़े ही उनके विषय में सोचने का अभ्यास करना।

३—स्मरण करने के सम्बन्ध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा सुझाई हुई विधियों का यथासम्भव प्रयोग करना।

अध्ययन के लिए पढ़ना—सब के अन्त में वह अध्ययन के लिए पढ़ता है। जब उक्त सभी गुण उसमें आ जाते हैं, तब वह अन्तिम रूपसे सीखना प्रारम्भ कर देता है। सीखने की क्रिया के इस अन्तिम रूप को ही हम अध्ययन कहते हैं, क्योंकि उर्ध्व कथित गुणों में से किसी एक की कमी भी अध्ययन-कार्य में बाधा पहुँचाये बिना न

रहेगी। सफल अध्ययन के निमित्त उसमें ऊपर के गुणों के अतिरिक्त निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है :—

१—समस्या के समाधान के लिए पढ़ना।

२—समस्या की खोज के लिए पढ़ना।

३—समस्या के कारणों और उसकी परिस्थितियों के ज्ञान के लिए पढ़ना।

इस प्रकार 'पढ़ने की कला' तथा 'ज्ञानार्जन के निमित्त पढ़ने' की क्रिया में पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिए उसमें क्रमिक विकास-युक्त गुणों को उत्पन्न करने का गुरुतम भार अध्यापक के ऊपर है। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप ही विद्यार्थी अपने पथ में सरलता, शीघ्रता तथा रुचि पूर्वक आगे बढ़ सकता है।

वाचन-शिक्षण की नवीन विधियाँ—वर्तमान शिक्षाप्रणाली में अनुभव और अनुसन्धान के पश्चात् पूर्व कथित पुरानी वर्ण-शिक्षा-विधि के स्थानपर कुछ ऐसी विधियों का प्रचलन हो गया है जो वाचन-शिक्षा में किसी न किसी रूप में बालक को अवश्य सहायता पहुँचाती हैं। उनमें से कुछ निम्नांकित हैं :—

१—देखो और पढ़ो विधि।

२—वाक्य-शिक्षण-विधि।

३—अनुकरण-विधि।

४—ध्वनि-साम्य-विधि।

५—भाषा-शिक्षण-यन्त्र-विधि।

६—सामूहिक पाठन-विधि।

७—साहचर्य-विधि।

देखो और पढ़ो विधि—इस विधि का विकास पुरानी वर्ण-शिक्षण-विधि का विरोध करने के लिए हुआ। इसके अनुसार कबूतर वाला क बनाने के लिए गोलाकार, खड़ी पाई और आधी लट-

कती हुई पाई खींचना सीखने के स्थान पर प्रारम्भ से ही बालक को शब्द-परिचय कराया जाता है। चित्रों के ऊपर या नीचे उनके बोध के निमित्त शब्द लिखे होते हैं। चित्र इतने बड़े होते हैं कि कक्षा के विद्यार्थी श्याम पटके निकट न आकर अपने स्थान से ही उसे देख सकें। ऐसे छपे हुए अथवा कागज पर हाथ से बनाये हुए चित्रों के स्थान पर अध्यापक द्वारा श्याम पट पर बनाये हुए चित्र भी काम में लाये जा सकते हैं। प्रारम्भिक शब्द और चित्र विद्यार्थी की अनुभव-परिधि के भीतर के होते हैं। चित्र से सम्बन्धित अनुभव के सहारे परिचित शब्दों की सार्थकता विद्यार्थी की रुचि को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है और उसे यह नहीं जान पड़ता कि उसे कुछ सिखाया जा रहा है। वह ऐसा अनुभव करता है जैसे उसके सामने कोई ऐसी वस्तु है जिससे खेलने में उसे आनन्द आयेगा। कई बार उस चित्र और शब्द को देखने के पश्चात उस शब्द का चित्र बालक के मस्तिष्क में भी गहरा अंकित हो जाता है, जिससे उस वस्तु अथवा चित्र का स्मरण करते ही उसे वह शब्द-चित्र भी स्मरण हो जाता है। इस शब्द-चित्र में अनेक वर्ण ('कटहल' में क, ट, ह, ल) होते हैं। उन सभी वर्णों से उसका साक्षात्कार हो जाता है। अब स्थिति यह हो जाती है कि वह अपने परिचित शब्द के सहारे वर्णों का परिचय भी प्राप्त कर लेता है—यह दूसरी बात है कि वह उसी समय उन वर्णों से बने किसी दूसरे शब्द को नहीं पहिचान सकता। धीरे धीरे अन्य क्रमिक चित्रों और शब्दों के सहारे उसके वर्ण-ज्ञान को इतना पूर्ण बना दिया जाता है कि वह उनसे बने किसी शब्द को पढ़ने में सफल हो जाता है। इतना ही नहीं, आवश्यक अभ्यास के पश्चात वह उस शब्द-चित्र को लिपिबद्ध भी कर दे सकता है। इस प्रकार यह विधि वाचन से लेखन की ओर चलने की मनोवैज्ञानिक विधि के अनुकूल है।

किन्तु इन गुणों के साथ ही इसमें कुछ दोष भी है। जहाँ तक परिचित वस्तुओं से सम्बन्धित शब्दों से सहायता ली जाती है, वहाँ तक वे आगे सीखते रहते हैं। अन्त में एक ऐसी स्थिति भी आती है जब पढ़ाए जानेवाले शब्द उसके परिचय के बाहर की वस्तुओं से सम्बन्धित ह ने लगते हैं क्योंकि बालक का अनुभव अतिसीमित होता है। इस दशा में उसके लिए उन चित्रों को मन में बैठा सकने में कठिनाई उत्पन्न होने लगती है। जब चित्र मस्तिष्क में नहीं जमते तो उससे सम्बन्धित शब्द-चित्रों की छाप भी धुँधली पड़ जाती है और बार-बार मिटती रहती है। अब सीखने में विलम्ब होने लगता है और एक सीमा तक मनोवैज्ञानिक स्थिति में भी परिवर्त्तन हो जाता है। यह सब होते हुए भी यह विधि लाभप्रद है।

वाक्य-शिक्षण-विधि—इस विधि को उक्त 'देखो और पढ़ो' विधि का नवीन और परिवर्धित संस्करण कहा जा सकता है। इसके अनुसार वाचन-शिक्षण का कार्य वाक्यों अथवा छोटी-छोटी कहानियों से प्रारम्भ किया जाता है। उन कहानियों को रुचिपूर्वक सुनने के कारण बालक उनमें प्रयुक्त वाक्यों से परिचय प्राप्त करता है और वाक्यों से परिचय प्राप्त होते ही उसे शब्दों को निकट से समझने का अवसर मिलता है। शब्दों का परिचय कुछ पुराना पड़ते ही उनमें प्रयुक्त वर्णों से भी उसका साक्षात्कार होने लगता है, क्योंकि इन कहानियों को केवल मौखिक रूप से कहकर सुनाया ही नहीं जाता वरन् उनसे सम्बन्धित बड़े-बड़े चित्र भी बालक को दिखाये जाते हैं। इन चित्रों के कई अंग होते हैं जो मिलकर उस पूरी कहानी का सृजन करते हैं। प्रत्येक अंग के नीचे कहानी का वह वाक्य लिखा रहता है जिससे उसका सम्बन्ध है। इन लिखित वाक्यों के वर्ण बड़े-बड़े होते हैं और स्याही गाढ़ी होती है, जिससे बालक के नेत्र सुगमतापूर्वक उनका चित्र ले सकें, स्थापित कर सकें।

अब इस प्रकार के चित्रों और वाक्यों से बनी पुस्तकों की रचना भी होने लगी है, जो प्रायः विद्यार्थी के बड़े काम की सिद्ध हुई हैं। अध्यापक श्री भगवती प्रसाद की लिखी और हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय बनारस द्वारा प्रकाशित 'राजा बेटा पढ़ो' इसी प्रकार की पुस्तकों का एक उदाहरण है। इस विधि का सुप्रयोग ही उक्त पुस्तक की ख्याति का प्रधान कारण है।

बालकों की रुचि और उनके अनुभव का ध्यान रखते हुए ही चित्रों और वाक्यों का संकलन करना चाहिए जिससे उनके उत्साह को बढ़ने का अवसर मिले।

ऐसी पुस्तकें न प्राप्त हो सकने की अवस्था में विभिन्न प्रकार के रुचिकर खेलों की सहायता से तथा कहानी और प्रश्नोत्तर द्वारा इस विधि का एक सीमा तक प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु चित्रों और लिखित वाक्यों आदि की आवश्यकता अन्त में पड़ेगी ही क्योंकि केवल खेल पर प्रश्नोत्तर से वाक्यों के ठोस रूप का परिचय नहीं कराया जा सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि इस विधि द्वारा शिक्षित बालकों का शब्द-भण्डार बड़ा ही सीमित रह जा सकता है। इसके साथ ही एक ही आकार अथवा मिलते-जुलते आकार वाले शब्दों में उन्हें भ्रम भी उत्पन्न हो सकता है (यथा—कलम, कमल आदि)। किन्तु इन सब कठिनाइयों का ध्यान ऊपर कही गई पुस्तकों के निर्माण के समय ही रक्खा जा सकता है, जिससे वे बालक के सामने ऐसे रूप में उपस्थित की जा सकें कि इन भ्रमों की कम से कम सम्भावना हो।

<u>अनुकरण विधि</u>—इस विधि को हम प्रथम विधि ('देखो और पढ़ो') का एक परिवर्त्तित संस्करण मात्र कह सकते हैं। इसके अनुसार अध्यापक द्वारा कहे गये एक-एक शब्द का बालक अनुकरण

करता चलता है। इस विधि में बालक की मनोवैज्ञानिक स्थिति का यथेष्ट ध्यान नहीं रक्खा गया है। इसके साथ ही यह विधि उन भाषाओं के लिए उपयोगी है जिन शब्दों का उच्चारण निश्चित मात्राओं के अनुकूल न होकर एक पुराने निश्चित ढंग से किया जाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी को लीजिए—कप-प्याला (cup), रन-दौड़ना (run), बट-किन्तु (but) आदि शब्दों में उ (u) की मात्रा प्रयोग की गई है। इसलिए उनका उच्चारण कुप, रुन, बुट आदि होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं है। अन्य शब्दों 'पुट-रखना (put)', ट्रुथ-सचाई (truth) आदि में भी उ मात्रा का प्रयोग किया गया है किन्तु वहाँ उनका उच्चारण उसके अनुसार है, जहाँ उसे उक्त उच्चारण-क्रम के अनुकूल 'पट' और 'ट्रथ' होना चाहिए। हमारी भाषा (हिन्दी) में इस विधि का कोई महत्व नहीं है।

ध्वनि-साम्य-विधि—जैसा ध्वनि-साम्य नाम से प्रकट है, इस विधि में यह ध्यान रक्खा जाता है कि बालक को शीघ्र शुद्ध लेखन में सफल बनाने के निमित्त एक साथ शब्द लिखने का अभ्यास कराया जाय जिनकी ध्वनि में समता हो अर्थात् जिनके उच्चारण प्राय: एक से हों—जैसे, लट्टू, टट्टू, नर्म, धर्म, पूर्ण, चूर्ण आदि। इसमें सन्देह नहीं कि एक शब्द सीखने के पश्चात् उसी प्रकार के उच्चारण वाले अनेक शब्दों को पढ़ने में बालक को सुविधा प्राप्त होती है और उसका उत्साह बढ़ता जाता है। किन्तु इस विधि में प्रधान कठिनाई यह उपस्थित होती है कि छोटे बच्चों की अनुभव-परिधि के भीतर ऐसे शब्द पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं जिनसे वह यथेष्ट सहायता प्राप्त कर सके। बहुत दूर तक सोचकर भी अध्यापक उस सीमा के भीतर आवश्यक शब्द प्राय: न निकाल सकेगा। इसलिए बच्चों को यह सुविधा बहुत थोड़ी मात्रा में ही दी जा सकती है। उदाहरणार्थ, लट्टू वह जानता है किन्तु टट्टू नहीं—क्योंकि वह साधारणतः उसे घोड़ा

कह कर पुकारता है। यहाँ टट्टू शब्द का अर्थ बताना पड़ेगा जो प्रारम्भ में प्रायः उसे भूल जा सकता है।

दूसरी कठिनाई यह है कि इस कार्य के लिए एकत्रित किए गये कुछ शब्द ऐसे भी हो सकते हैं जिनको जानते हुए भी उनका उच्चारण वह घरेलू भाषा के अधिक प्रभाव के कारण कुछ और ही प्रकार से करता है, जैसे, नर्म, चर्म को वह नरम और चमड़ा कहने में अभ्यस्त है; पूर्ण और चूर्ण को वह पूरा और चूरन के रूप में ही अधिक अच्छी प्रकार समझता है। फिर उसकी दृष्टि से इन शब्दों में ध्वनि साम्य है ही नहीं—यदि यह कहा जाय कि वह उसके अर्थ को भी सीखेगा और पढ़ना भी सीखता चलेगा तो यह अत्युक्ति है। पढ़ना सीखने के समय उसे अर्थ समझने में जितना ही कम परिश्रम करना पड़े उतना ही उसकी शिक्षा की प्रगति के लिए हितकर है।

भाषा शिक्षण-यन्त्र-विधि—यह विधि अनुकरण-विधि का एक वृहत् और परिवर्तित रूप है। अनुकरण विधि में जहाँ अध्यापक के द्वारा उच्चारित शब्द का वैसा ही उच्चारण विद्यार्थी को करना पड़ता है वहाँ इस विधि में बालक यन्त्र रूपी अध्यापक द्वारा कही गई बातों का अनुकरण करता है। यह यन्त्र साधारणतः ग्रामोफोन (लिंग्वाफोन) के नाम से जाना जाता है। इसके तवे (रेकर्ड) में गाने के स्थान पर बालक को दिया जाने वाला पाठ भर दिया जाता है और शेष क्रिया ग्रामोफोन की तरह ही चलती है। इससे पहिला लाभ यह होता है कि बालक के उच्चारण में एकरूपता आ जाती है क्योंकि तवे में एक बार साध कर जो उच्चारण भरा जाता है वह सर्वदा एक जैसा ही उसमें से उच्चरित होगा। मनुष्य (अध्यापक) की जिह्वा द्वारा होते रहने वाले उच्चारण सम्बन्धी भूल की सम्भावना ही नहीं रहती। दूसरा लाभ यह होता है कि बालकों को दिया जाने वाला ज्ञान एक सुव्यवस्थित क्रम में रख कर दिया जा सकता है

क्योंकि मनुष्य बार-बार कहने में उस क्रम में कोई भूल या अन्तर कर दे सकता है किन्तु यन्त्र से ऐसी सम्भावना नहीं है। इन लाभों के साथ ही कठिनाई यह है कि यह यन्त्र मूल्यवान् होता है जो अमेरिका और इंग्लैण्ड की प्रारम्भिक पाठशालाओं में भले ही उपलब्ध हो, भारत जैसे भिखारी देश के लिए तो कम से कम निकट भविष्य के लिए ऐसे यन्त्रों का इतनी बड़ी संख्या में प्राप्त करना असम्भव ही है।

सामूहिक पाठन-विधि—इस विधि में अध्यापक बालकों के एक समूह (या पूरी कक्षा) को छोटे-छोटे पद्य या प्रचलित सरल गीतों की कुछ कड़ियाँ पढ़कर (या पूर्व स्मृति से) सुनाता है और बालक उसका अनुकरण करते चलते हैं। यह अनुकरण विधि के सामूहिक रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है किन्तु गीत और कविताएँ अपने में एक प्रकार की उच्चारण सम्बन्धी सुविधा तथा सौष्ठव रखती हैं जिससे अनुकरण विधि की नीरसता इसमें कम आने पाती है और बालक कुछ न कुछ अवश्य सीख जाता है। यथा—

गधा एक था मोटा ताजा।
बन बैठा वह बन का राजा॥
कहीं शेर का चमड़ा पाया।
झट वैसा ही रूप बनाया॥ आदि—

इस विधि से बालक का उच्चारण कुछ अंशों में सुधर जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ कथोपथन और नाटकीय गद्यांशों के समुचित उच्चारण की शिक्षा भी इस विधि द्वारा सरलता-पूर्वक दी जा सकती है।

साहचर्य-विधि—यह विधि डाक्टर मान्टेसरी के मस्तिष्क की उपज है और पश्चिमी देशों में प्रायः प्रयोग में लाई जाती है। इस विधि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की छोटी-छोटी वस्तुएं, खिलौने

और चित्र आदि जो प्रायः बालकों की अनुभव-परिधि के अन्तर्गत होते हैं एक कमरे में उचित क्रम से दीवाल के निकट (या अन्यत्र भी) रख दिये जाते हैं और उनके नाम छोटे दफ्ती के टुकड़ों पर (जिसपर श्वेत पत्र लगा दिया जाता है) लिख कर दीवाल के सहारे प्रत्येक के ऊपर लटका दिए जाते हैं। तत्पश्चात् बच्चों को उन्हें ध्यानपूर्वक बार-बार देखकर हृदयांकित करने का अवसर दिया जाता है। यह सब हो जाने पर उन कार्डों में से कुछ (४-६) को उतार कर एक में मिला दिया जाता है और विद्यार्थी से कहा जाता है कि अमुक वस्तु का कार्ड उसके ऊपर लटका दो। वह एकाध बार असफल भी हो सकता है, किन्तु प्रायः अत्यन्त शीघ्र ठीक वस्तु के ऊपर उसके नाम का कार्ड लगा देता है। इसी प्रकार वस्तुओं को कार्डों के नीचे भी रखवाया जाता है। लगातार क्रिया का अभ्यास करते-करते वह अनेक शब्दों और उनमें प्रयुक्त वर्णों से परिचय प्राप्त कर लेता है। पढ़ने का कार्य उसके लिए रोचक और उत्साहवर्धक हो जाता है।

इस विधि की अनेक अन्य क्रियाएं भी हैं जिनका वर्णन यहाँ अप्रसांगिक होगा (देखिए 'शिक्षा-सिद्धान्त' में 'नवीन शिक्षण पद्धतियाँ' अध्याय)।

इस विधि के द्वारा कुछ संज्ञा शब्द ही बताये जा सकते हैं; जैसा कि ऊपर कही गई वस्तुओं और उनके नाम से समझा जा सकता है। किन्तु हमारे बालक की आवश्यकता संज्ञा तक ही सीमित नहीं है वह तो बहुत आगे जाना चाहता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उसके लिए वाक्यों के बोलने और पढ़ने की आवश्यकता कहीं अधिक है। इसलिए यह विधि अधिक महत्व की नहीं है। फिर भी बालक के वर्ण-बोध में इससे जो सुविधा मिलती है उसका कम महत्व नहीं है।

वाचन की भिन्न-भिन्न शिक्षण-विधियों पर एक चलती दृष्टि डाल कर हमने यह देखने का प्रयत्न किया कि उनमें क्या विशेषताएं हैं। अब हम इस निष्कर्ष पर आना चाहते हैं कि इनमें से कौन सर्वतोधिक उपयोगी तथा आज की हमारी परिस्थितियों के अनुकूल है। यह स्पष्ट रूप से कह दिया जा सकता है कि विधियों की अच्छाई-बुराई प्रायः अध्यापक द्वारा किए गये प्रयोग पर निर्भर करती है। वह सुप्रयोग द्वारा कम लाभ वाली विधि को अधिक लाभदायक और कुप्रयोग से अधिक लाभदायक विधि को पूर्णतः व्यर्थ सिद्ध कर दे सकता है। मेरी दृष्टि में विधियों का महत्व कम और अध्यापक का महत्व अधिक है। यह सब होते हुए भी यदि हम प्रथम और द्वितीय ('देखो और कहो विधि' तथा वाक्य-शिक्षण प्रणाली) विधियों के मिश्रित प्रयोग से आवश्यकतानुकूल सहायता लें तो वाचन शिक्षा अपेक्षाकृत अधिक शीघ्रता और सरलता पूर्वक दी जा सकती है। आमोद-प्रमोद को सीमित रखकर शिक्षण-कार्य की ओर आवश्यक ध्यान रखकर और शिक्षण-सामग्री का समुचित चुनाव कर के हम अधिक लाभ उठा सकते हैं।

प्रारम्भिक पठन-सामग्री—ऊपर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि यदि बालक को अमुक प्रकार से वाचन शिक्षा दी जाय तो वे शीघ्रता और सरलतापूर्वक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब वे पढ़ सकने की स्थिति में हो जायँ तो पहिले किस प्रकार की पठन-सामग्री उनके समक्ष उपस्थित की जाय जिससे उन्हें आगे बढ़ने में प्रोत्साहन के साथ ही सुविधा भी प्राप्त हो और वे रुचिपूर्वक पठन कार्य में लगें। अब तक की दशा यह रही है कि प्रौढ़ व्यक्ति जिन विषयों और बातों में अपनी अभिरुचि देखता था वे ही विषय और बातें बच्चों को भी पढ़ाना अच्छा समझता था। वह इस बात पर कभी ध्यान नहीं देता था कि जिस

बात से उसका मनोरंजन अथवा ज्ञानवर्धन होता है उससे बालक का मनोरंजन और ज्ञानवर्धन भी अवश्य होगा ! यह निश्चित नहीं है अब उसे अपने चारों ओर के शिक्षा सम्बन्धी विकास को देखकर बच्चों से बाइबिल, कुरान शरीफ और वेद-संहिता रटवाने के युग का अन्त दृष्टिगत होने लगा है। आज के कुछ मनोवैज्ञानिक तो इतने आगे बढ़ गये हैं कि उनके विचार से प्रौढ़ व्यक्ति को बालकोचित साहित्य की प्रकार-सीमा निर्धारित करने का कोई अधिकार ही नहीं है। किन्तु सत्य यह है कि यदि प्रौढ़ व्यक्ति के विचारों का कुछ महत्व है और उसे बालक का नेतृत्व करने तथा शिक्षा के सुबोध और सुगम मार्ग पर ले चलने का अधिकार है तो उसे उसकी समुचित पठन-सामग्री के चुनाव में भी उचित सहायता पहुँचाने का अधिकार है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह बालक के लिए उस सामग्री के चुनने का कार्य न करके उसे सुन्दर चुनाव की सुविधा देने का कार्य करे तो अत्युत्तम है।

<u>प्रथम कसौटी</u>—सर्व प्रथम हमें यह ध्यान रखना है कि जो सामग्री बालक को पढ़ने के निमित्त दी जाय उसके गुणों का ध्यान रक्खा जाय—वाक्य।

१—वाक्य के गुम्फित गठन तथा व्याकरणोचित दुरूहता से उसे मुक्त रक्खा जाय।

२—उसमें आये हुए आदर्श अत्यन्त ऊँचे न होकर बालक की मानसिक संभाव्य सीमा के भीतर हों।

३—भाषा यथासम्भव स्पष्ट, प्रत्यक्ष और कर्तव्य प्रधान हो।

४—बालक की वाचन-योग्यता और ग्रहण-शक्ति के अन्तर्गत हो।

द्वितीय कसौटी—दूसरी बात उस लेख के तथ्य से सम्बन्धित है उक्त गुणों का ध्यान रखने के साथ ही हमें यह भी देखना चाहिए कि बालक जो कुछ पढ़ रहा है उससे उसके अनुभवों और विचार-

शक्तिपर अध्यापक द्वारा वांछित प्रभाव पड़ने के स्थान पर कहीं व्यर्थ के धर्माडम्बर अथवा अन्ध विश्वास की ओर तो उसका झुकाव नहीं हो रहा है। उदाहरणार्थ—उस समय उसे परियों की कहानियाँ, उड़नखटोला, अलाउद्दीन के लैम्प, अलीबाबा-चालीस चोर और अनेकानेक पौराणिक गाथाएँ पढ़ने के लिए दी जायँ अथवा नहीं।

योरपीय विद्वानों का मत है कि ऐसे पठन-सामग्री से बच्चे हवाई पुल बाँधते-बाँधते पलायनवादी हो जाते हैं, अतएव ये प्रायः हानि ही पहुँचाती हैं। मेरा विश्वास है कि वे बच्चे पलायनवादी नहीं हो जाते वरन् इन बातों को वे ही बच्चे पसन्द करते हैं जो उक्त मनोवृत्ति के हों—उस मनोवृत्ति का कारण केवल पठन-सामग्री न होकर उसके दैनिक वातावरण की अनेक अन्य बातें भी हो सकती हैं।

कुछ भी हो यदि अनेक अन्य उत्तम और लाभदायक शिशु-मनोनुकूल संकलनों के साथ दाल में नमक की तरह उक्त बातें भी रख दी जायँ तो उनसे हानि होने की सम्भावना नहीं रह जाती और साथ ही सभी रुचि के बालकों को संतुलित पठन-सामग्री प्राप्त हो जाती है।

बच्चों के वाचन-विकास के जिस क्रम की चर्चा पिछले पृष्ठों में की गई है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भावनाओं और रुचियों में परिवर्त्तन होते रहने के कारण भिन्न अवस्थाओं में वह भिन्न प्रकार की पठन-सामग्री की आवश्यकता अनुभव करने लगता है। सम्भव है वह कल जिस पुस्तक या जिन बातों को बड़े चाव के साथ पढ़ता था, आज उनसे घृणा करने लगे और जिन बातों अथवा पुस्तकों में आज उसका मन नहीं लगता था उनको पढ़ने के लिये कल वह आतुर हो उठे। इसलिये प्रौढ़ व्यक्ति की रुचि अथवा

अरुचि का बालक की रुचि और अरुचि से कोई साथ नहीं है। उसकी पठन-सामग्री का क्षेत्र जितना ही विस्तृत होगा हानि की उतनी ही कम सम्भावना किसी अवाञ्छित पठन-सामग्री से उसे हो सकती है।

अध्याय ६

लेखन-शिक्षण

लेखन कला की उत्पत्ति—पीछे के पृष्ठों में इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है कि ध्वनि-संकेतों के पश्चात् ही लिपि का विकास हुआ। यहाँ हम स्पष्ट करने का यत्न करेंगे कि लिपि-कला किस विकास क्रम से आज इस रूप में हमारे सामने उपस्थित है।

ऐतिहासिक सूत्रों से ज्ञात होता है कि पिछड़ी हुई जातियों के लोग बहुत दिनों तक एक पूरी घटना का चित्र बनाकर उसे दूसरों को समझा देने की चेष्टा करते थे समाचार भेजते समय एक चित्र के पीछे दूसरा और उसके पीछे तीसरा आदि अनेक चित्र लगाकर भेजते थे। उस पूरे समाचार को ठीक प्रकार समझ लेना कठिन कार्य था। यहाँ तक कि अर्थ का अनर्थ हो जाना भी असम्भव नहीं था।

ज्यों ज्यों उनमें सभ्यता का प्रसार होता गया भिन्न-भिन्न वस्तुओं के पृथक् पृथक् ऐसे चित्र बनने लगे जो सफलता पूर्वक भाव को स्पष्ट कर सकें। इन चित्र संकेतों में जन साधारण के लिये आवश्यक बोधगम्यता बहुत लम्बे समय के पश्चात् समाविष्ट हो सकी। इसके पश्चात् वे चित्र अपने रूप में क्रमशः छोटे होते-होते अति साधारण संकेत मात्र रह गये। धीरे-धीरे जब वाक्यों को तोड़कर शब्द-समूहों

और शब्दों को अलग-अलग करके समझा जाने लगा तब लेखन द्वारा भाषा प्रकाश में आने लगी और प्रत्येक शब्द एक स्वतन्त्र संकेत से सम्बद्ध हो गया।

पुनः जब शब्दों का भी विभिन्न ध्वनियों के रूप में विश्लेषण हो गया और मनुष्य का मस्तिष्क अधिक शक्तिशाली हो गया तब प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अंग (ध्वनि) के लिये उन्हीं प्राचीन चित्रों का लघुतम रूप अति सीमित रेखाओं के द्वारा निश्चित कर दिया गया। आगे चल कर इन्हीं को हम वर्ण के नाम से पुकारने लगे।

वर्णों के पूर्ण प्रचलन के पश्चात् लेखन-कला का प्रसार हुआ जिससे हमारे अत्यन्त प्राचीन विचार भी लिपि-बद्ध होकर आज तक सुरक्षित हैं। एक युग था जब लेखन कला में अभ्यस्त व्यक्ति महान् पण्डित समझा जाता था और उसकी कृति तथा अनुलिपि को अत्यधिक सम्मान देने के साथ ही उसकी भी पूजा होती थी। किन्तु यन्त्र युग में आकर लेखन कला का सम्मान क्रमशः घटता गया। फिर भी विज्ञान की दृष्टि से हम उस कला में आगे ही बढ़ रहे हैं।

हमारी लिपि—भारतवर्ष में विशेषतः उत्तर प्रदेश में जो लिपि व्यवहार में लाई जाती है उसे हम हिन्दी (नागरी) लिपि कहते हैं। लेखन-शिक्षण की जिन विधियों पर हम आगे प्रकाश डालेंगे उन्हें हिन्दी लिपि के ही विषय में समझना चाहिए। इस लिपि में अन्य लिपियों की अपेक्षा निम्न लिखित विशेषतायें ध्यान देने योग्य हैं:—

१—वैज्ञानिकता—हिन्दी-लिपि में अन्य सभी लिपियों से अधिक ध्वनियाँ हैं। कुछ अन्य भाषाओं जैसे अंग्रेजी, फारसी, अरबी आदि में अनेक ध्वनियों के बोध के लिये एक ही संकेत निश्चित होता है। जैसे—एक स्थान पर जिससे बालकों को सीखने में कठिनाई

होती है और प्रायः भूलें होती रहती हैं 'carry' सैरी 'लिखकर' कैरी पढ़ना, और दूसरे स्थान पर cent 'सेन्ट' लिखकर 'सेन्ट' पढ़ना, तीसरे स्थान पर scholar 'स्हलर' लिखकर 'स्कालर' पढ़ना अर्थात् c(सी) को ही कहीं क और कहीं स पढ़ना; कहीं tion लिख कर 'शन' पढ़ना (action एक्शन) कहीं sion लिखकर 'शन' पढ़ना और कहीं कुछ लिख कर उसका उच्चारण ही छोड़ देना (night नाइट आदि) इसी प्रकार फारसी में (नस्र = गद्य) लिखने में 'से' वर्ण और नासूर (पीबयुक्त पुराना घाव) लिखने में 'सीन' वर्ण का प्रयोग करना और कसूर Nospace लिखने में उसी स के लिए 'साद' वर्ण का प्रयोग करना। किन्तु हिन्दी में यह अवस्था नहीं है, और न आलफा, बीटा, गामा, शीटा आदि या अलिफ, बे, पे, ते आदि की तरह हिन्दी लिपि के संकेतों का बोध ऐसे विभिन्न बड़े-बड़े नामों से होता है जिनमें यह ढूँढ़ना पड़ जाय कि इस नाम की कौन-सी ध्वनि उस वर्ण से सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ, अलिफ नाम में वर्ण किस ध्वनि से सम्बन्धित है अ से या ल से या फ से; उसी प्रकार थीटा नाम से थ वर्ण का बोध होगा या ट वर्ण का। इस लिपि में ध्वनि के नाम और उच्चारण भिन्न-भिन्न नहीं हैं। क लिख कर स नहीं बोला जा सकता और न स बोल कर क लिखा जा सकता है, न ग को गामा कहा जाता है और न व को बीटा। वैज्ञानिक दृष्टि से विश्व की अन्य कोई भी लिपि नागरी के समकक्ष नहीं खड़ी की जा सकती।

आकार सम्बन्धी सौन्दर्य—शिक्षण और पठन की दृष्टि से तो यह सर्व-श्रेष्ठ है ही, शारीरिक (आकार सम्बन्धी) सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह किसी से पीछे नहीं है। भारत की विश्व विख्यात प्राचीनतम चित्र कला का विकसित रूप हिन्दी लिपि के सौन्दर्य-पूर्ण चमन में अपनी छाप डाले बिना न रहा। फारसी, अरबी तथा अन्य

लिपियों के भद्दे घास फूस जैसे आकार इसकी समता में तुच्छ ठहरते है। वर्णों के ऊपर शिरोरेखा इसकी सौन्दर्य-वृद्धि में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई है। अन्य लिपियों की तरह अनेक शब्द एक ही में गुँथे जैसे न दिखाई देकर शब्द-शब्द अलग-अलग दिखाई देते हैं जिससे प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिये वाचन तथा लेखन दोनों में सुबिधा मिलती है और बड़े से बड़ा तथ्य भी पढ़ने में नेत्रों को घबराहट नहीं होती।

इतने पर भी कुछ ऐसे लोग हैं जिनकी दृष्टि अच्छी से अच्छी वस्तु में भी केवल दोषों की ही ओर जाती है और जिनके विषय में 'दूध पिये, पै, ना पिये, लगी पयोधर जोंक' लोकोक्ति प्रचलित है, ऐसा सोचते हैं कि उसके ख, त्र आदि वर्ण बड़े भ्रामक और अवैज्ञानिक हैं। बात ऊपर से देखने में एक सीमा तक ठीक भी लगती है, किन्तु सत्य तो यह है कि ख के उच्चारण के कारण 'खरबूजा' शब्द को मूर्ख भी 'रवबूजा' समझने के भ्रम में नहीं पड़ सकता। त्र वर्ण के स्थान पर भले ही त में र मिला कर (त्र्) लिख लेना लोग अधिक अच्छा समझें किन्तु यह न भूलें कि 'त्र' इस 'त्र्' का ही संक्षिप्त रूप है जो सुविधा की दृष्टि से रख लिया गया है। इनमें कोई ऐसी बात नहीं है कि जिसके कारण हिन्दी लिपि को अवैज्ञानिक कहा जा सके।

प्रसिद्ध विद्वान् कनिंघम के कथनानुसार 'भारतवर्ष में जितनी प्रचलित लिपियाँ हैं सब ब्राह्मी लिपि के परिवर्त्तित आकार हैं। कर्त्तरिका के चित्र से 'क', धनु के चित्र से 'ध', रज्जु के चित्र से 'र', गगन के चित्र से 'ग' तथा तालपत्र के चित्र से 'त' आदि की उत्पत्ति है।' किन्तु भारतीय विद्वान् ऐसा नहीं मानते। जो भी हो (इस विवाद के विशद वर्णन के निमित्त एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है) इतना तो स्वीकार ही करना पड़ा कि हिन्दी लिपि, चाहे

वह जिस किसी लिपि से भी उत्पन्न हुई हो, वर्तमान विश्व की श्रेष्ठतम लिपि है। उसकी छोटी मोटी विवादग्रस्त बातों से उसकी सर्व गुण सम्पन्नता और वैज्ञानिकता तथा कलात्मक रूप पर कोई धब्बा नहीं पड़ता। यदि अंग्रेजी की तरह वर्णों में न होने के कारण टाइप सम्बन्धी यन्त्रों में उससे कठिनाइयाँ उपस्थित हों तो यह लिपि का नहीं अन्य निर्माणकर्ताओं का दोष है। यदि दर्जी हमारे कुरते की जेब ही सँकरी या छोटी बनाये और हम रास्ता चलते समय अपने प्रिय व्यक्ति का चित्र उसमें न रख पायें तो इसके लिए उसे मरोड़ कर या इधर-उधर से नोच कर छोटा करके रास्ते में जेब में रखना हितकर है या उस जेब के स्थान पर दूसरी जेब लगा लेना हितकर है—इतना विचार साधारण व्यक्ति भी कर सकता है। इस प्रकार के कारणों से किसी उत्तम लिपि की उधेड़-बुन करना और उसके सौन्दर्य को नष्ट करना बुद्धिमानी नहीं है।

वर्ण-रचना-शिक्षण—'वाचन-शिक्षण' अध्याय में हम इस विषय पर विचार कर चुके हैं कि पहिले पढ़ना सिखाया जाय या लिखना। वहाँ हम हर प्रकार से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पढ़ना पहिले और लिखना पीछे सिखाना ही अधिक मनोवैज्ञानिक और सुविधा-जनक है। हाँ, इतना यहाँ अवश्य कहा जा सकता है कि शीघ्रातिशीघ्र लेखन-कला की ओर भी उसे गतिशील रखने के लिए दोनों (पढ़ने और लिखने) के बीच में कम से कम समय का अन्तर दिया जाय, जिससे उसके नेत्रों और स्वर-यन्त्रों को अभ्यस्त बनाने के साथ ही उँगुलियों को भी अभ्यास दिया जा सके और उन्हें अधिकाधिक सक्रिय रक्खा जा सके। इसी दृष्टि से ऐसी वाचन-शिक्षण-विधियों को अधिक लाभदायक कहा गया है जिनसे बालक की मानसिक सक्रियता के साथ ही उसकी शारीरिक सक्रियता का सामंजस्य भी अच्छी प्रकार स्थापित किया जा सके। इसका सबसे

सुन्दर फल यह होता है कि वाचन के पश्चात् ही लिखना सीखने में भी उसकी तत्सम्बन्धी इन्द्रियाँ अत्यन्त जागरूक रहती हैं और उसे यह अनुभव नहीं होने देतीं कि वह एक नया काम नये सिरे से प्रारम्भ कर रहा है।

अब समस्या यह है कि बालक को प्रारम्भ में वर्ण-बोध किस प्रकार कराया जाय। वैज्ञानिक विधि की चर्चा हम पहिले कर चुके हैं और यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि आज के मानस शास्त्री उसके पक्ष में नहीं हैं। वे किसी भी ऐसी विधि को बालक की प्रारम्भिक शिक्षा के योग्य नहीं मानते जो प्रारम्भ से ही सार्थक न हो और बालक को यह समझने का अवसर न दे कि वह कोई आवश्यक कार्य कर रहा है और जो उसके लिये आनन्ददायक और आकर्षक न हो। इस दृष्टि से हम शब्दों द्वारा वर्ण-बोध का कार्य प्रारम्भ करें तो उत्तम होगा। यह कार्य प्रारम्भ करने से पहले हमें ऐसे वर्णों का चुनाव कर लेना चाहिये जिनके रेखा-चित्र सबसे सरल और लिखने में सुविधा-जनक हों। क्रमशः बालक की उँगलियाँ अभ्यस्त हो जाने के पश्चात् उसके लिये कोई अक्षर लिख सकना कठिन न रह जायगा। इसके लिए निम्नांकित क्रम सुविधाजनक होगा:—

१—ग म भ झ।
२—र स ए।
३—ट ठ ड ढ द।
४—व ब क च ख।
५—प फ अ।
६—ह इ छ।
७—न ज त ल।
८—य थ घ ध ण।

उक्त विधि के अनुसार तथा वर्णों के सरलतम क्रम के अनुसार

पहिले ग और म वर्णों की लेखन-शिक्षा देनी चाहिये। इस सम्बन्ध में श्यामपट पर निम्नांकित शब्द लिखे जायँ अथवा इसी प्रकार के अन्य शब्द लिखे जायँ जो बालक की अनुभव-सीमा के अन्तर्गत हों—

गदहा गरी गलीचा गठरी।

मछली मटर मदारी मकरी।

पहिली पंक्ति के शब्द अध्यापक के संकेत पर बालक को बार-बार ग वर्ण का स्मरण कराते रहेंगे और दूसरी पंक्ति के शब्द म वर्ण के विषय में वही कार्य करेंगे। यद्यपि शब्दों के इस समूह से कोई वाक्य नहीं बनता किन्तु यहाँ उसकी आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि सभी शब्द उसके परिचित हैं और उनके रैखिक चित्रों से वास्तविक चित्रों द्वारा (अधिक अच्छा हो यदि वे उनके नीचे दिखाये जा सकें) उसके पूर्व अनुभवों का साक्षात्कार होता रहता है। यदि इन शब्दों में कुछ और शब्द जोड़ कर वाक्य बना लिये जायँ तो उनमें अनेक ऐसे शब्द आ जायँगे (क्रिया तथा कारक के चिन्ह आदि) जिनसे ग वर्ण का वह चित्र जो उक्त शब्द-समूह से उनके मस्तिष्क में बनता, क्रमशः क्षीण और प्रकाशहीन होता जाता है। इससे हमारे उद्देश्य में वांछित सफलता नहीं मिलती। इसके साथ ही ग और म वर्णों की पक्तियों से एक तुक बन जाता है जो उच्चारण करने में मधुर और सरल प्रतीत होता है। ग और म में बहुत थोड़ा अन्तर होने के कारण उन्हें एक साथ ही सीख लेना उसके लिये कठिन नहीं है।

सर्व गुण सम्पन्न रहने की अवस्था में भी यदि अध्यापक किसी कारणवश (जैसे चित्र आदि की कमी) दोनों पंक्तियों को या एक ही पंक्ति के सभी शब्दों को एक साथ ही उपस्थित करना अच्छा नहीं समझता तो अन्य कोई क्रम स्वतन्त्रतापूर्वक रख सकता है किन्तु ऐसे शब्दों की सहायता न लेनी चाहिये जिसका अर्थ भी

समझने का यत्न बालक को करना पड़े, चाहे वे शब्द कितने भी सुन्दर और सुडौल क्यों न हों।

यदि हम वाक्य-शिक्षण-विधि से प्रारम्भ करें तो निम्नांकित वाक्य दिये जा सके हैं:—

गदहा गठरी घर ले जाता।
मछली मटर मदारी खाता॥

यहाँ पहिले वाक्य के नीचे एक ऐसा चित्र होना चाहिये जिसमें गदहा गठरी घर की ओर ले जा रहा हो और दूसरे वाक्य के नीचे दूसरा चित्र ऐसा हो जिसमें मदारी मटर और मछली खा रहा हो। ये पंक्तियाँ भी तुकबन्दी के रूप में हैं जिन्हें कंठाग्र करने में बालक को सुविधा होगी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन पंक्तियों को उसे कंठाग्र कराना ही चाहिये, वरन् यह कि चित्रों और गीत-प्रियता के कारण बालक स्वयम् ही बार-बार गुनगुनाते रहकर उन्हें कंठाग्र कर लेंगे। इन पंक्तियों में तीनों गुणों का उपस्थित होना सरलतम वर्ण-बोध-विधि की ओर संकेत करता है। अनावश्यक शब्द जो बालक का ध्यान ग और म से हटाकर अन्यत्र ले जा सकते हैं, जितने ही कम प्रयुक्त हों उतना ही अच्छा है। फिर भी वाक्यार्थ को परिचित, प्रिय तथा चित्रमय बनाना सबसे प्रधान कार्य है। इसकी उपेक्षा शिक्षण-विधि की मनोवैज्ञानिकता को नष्ट कर देगी।

शब्द और वाक्य की दोनों विधियों के उदाहरण देने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक उनमें से किसी भी विधि का प्रयोग कर सकता है किन्तु यह स्पष्ट है कि उसे शब्दों द्वारा लेखन-शिक्षा का कार्य अधिक सरल प्रतीत होगा।

वर्ण-रचना के विभिन्न साधन—अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर वर्तमान युग तक लेखन-शिक्षण के अनेक साधन प्रयोग में लाये गये हैं। भारत जैसे कंगाल देश में मिट्टी, राखी वालू खड़िया

तथा काठ की पटरी और लकड़ी के टुकड़े अधिकांश व्यवहार में आते रहते हैं।

१—काठ की पटरी पर मिट्टी, राखी या बालू बिछा कर समतल कर दिया जाता है। अध्यापक लिखे जाने वाले अक्षरों को श्याम पट पर बना देता है। बालक उसे बार बार देखते हैं और धीरे-धीरे अपनी उँगुलियों के सहारे उसी मिट्टी राख या बालू में नीचे की ओर दबाकर श्यामपट पर चित्रित वर्णों के प्रतिरूप बनाने का यत्न करते हैं और अध्यापक के वर्णोच्चारण का अनुकरण करके उन प्रतिरूपों का अलग-अलग उच्चारण वर्ण के रूप में करने लगते हैं। यह कार्य पटरी न रहने की अवस्था में भूमि पर भी किया जाता है।

२—बच्चों की पटरियों पर सरकण्डे या नरकट की मोटी लेखनी गोंद के पानी में डुबोकर मोटे और बड़े अक्षर लिख दिये जाते हैं और उनके ऊपर भूँसी या लकड़ी का बुरादा भिन्न रंगों में रंगकर चिपका दिया जाता है। (इसी प्रकार किसी अन्य रंगीन वस्तु से भी उभरे हुए अक्षर बनाये जा सकते हैं)। पटरी पर लिखे हुए अक्षरों का उच्चारण (उन्हें देखते रहने के साथ ही) बालक द्वारा कराया जाता है। कुछ अभ्यास हो जाने के पश्चात् उन्हें भूमि या दूसरी पटरी पर नकल करने का प्रयत्न करने को कहा जाता है। इस प्रयत्न में पटरी उनके सामने उपस्थित रहती है। लिखने का कुछ अभ्यास कर लेने के पश्चात् पटरियाँ उनसे ले ली जाती हैं और सबको एक में मिलाकर उन्हें अपनी अपनी पटरी चुन लेने को कहा जाता है। वे इस प्रयत्न में एक अच्छी सीमा तक सफल होते दिखाई देते हैं। भूले हुए बालकों को सुधारने के लिये तथा ठीक चुनाव करनेवालों का अभ्यास बढ़ाने के लिये यह क्रम एकबार और प्रयोग में आता है। किन्तु इस दूसरी अवस्था में बालकों को भूमि या दूसरी पटरी पर लिखे गये अक्षरों से तुलना करने का अवसर न देने के

लिये तथा प्रयत्न में और गम्भीरता लाने के लिये उनके द्वारा की गई वे प्रतिलिपियाँ मिटा दी जाती हैं।

३—कुछ अध्यापक बालक की पटरी पर भींगी खड़िया मिट्टी से अक्षर लिख देते हैं और बालक उन अक्षरों का उच्चारण करते हुये कुछ समय तक उँगुली फेरता है। किन्तु एक तो भींगी हुई खड़िया द्वारा लिखे गये अक्षर कुछ पहिले से ही कम चटकीले होते हैं और दूसरे उनपर दो चार बार हाथ फेरते ही वे अदृश्य से होने लगते हैं। अत्यन्त धुँधला होते देखकर अध्यापक उसके हाथ में अच्छी खड़िया मिट्टी दे देता है जिनसे वह उन्हीं अक्षरों को उच्चारण के साथ पुनः पूर्वरूप देने का प्रयास करता है। इसप्रकार क्रमशः अक्षरों का अभ्यास होता चलता है।

४—कुछ अध्यापक त्रिपलाई (एक प्रकार की पतली चिकनी और चौरस लकड़ी जो कैरम बोर्ड आदि में प्रायः प्रयुक्त होती है) या मोटी दफ्ती में अक्षर काटकर (स्टेन्सिल विधि द्वारा) बालकों को दे देते हैं। उनकी सहातया से वे उन कटे हुये भागों में रंगीन पेंसिल या नुकीली खड़िया डालकर नीचे रक्खे हुये कागज या पटरी पर अक्षर बनाते हैं। तत्पश्चात् उसको अलग रख कर नीचे बने हुये अक्षरों की तुलना करते हैं। इस प्रकार बार बार उँगली फेरने और तुलना करते रहने से उन्हें उन अक्षरों के लिखने का अभ्यास हो जाता है। रंगीन पेंसिल तथा कागज के अभाव में उस दफ्ती के नीचे राखी या बालू बिछाकर भी काम चलाया जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि इन विधियों द्वारा बालक को लेखन-शिक्षा देने से समय की निर्मम हत्या होती है। किन्तु फिर भी इन विधियों का अनेक रूपों में अनेक स्थलों पर प्रचार है और हमारे बालकों में से अधिकांश इनमें से किसी न किसी विधि से कुछ न कुछ सहायता अवश्य प्राप्त कर चुके हैं।

नवीन विधियों में 'वाचन-शिक्षण' की चर्चा करते समय जिस 'वाक्य-शिक्षण-विधि' या 'कहानी प्रणाली' का वर्णन हम कर चुके हैं, वह एक संक्षिप्त रूप में लेखन-शिक्षण के प्रयोग में भी आती है। इस प्रकार की चित्रावलियाँ या चित्रोंवाली कुछ पुस्तकें काम में लाई जाती हैं, जिनमें चित्रों के ऊपर वाक्य लिखे हुए होते हैं। इन वाक्यों के पहिले शब्द का पहिला अक्षर या यदि सम्भव हो तो अनेक शब्दों का प्रथम अक्षर एकही होता है। उस वाक्य से बनी हुई कहानी को बालक चित्र में देखकर आकर्षित होता है और बार बार उसके ऊपर लिखे वाक्य (या पद्य) के उस अक्षर को देख कर प्रभावित होता है तथा उसे लिखने में सफल हो जाता है। इसके उदाहरण में पीछे की पक्तियाँ—उपस्थित की जा सकती हैं।

गदहा गठरी घर ले जाता।
मछली मटर मदारी खाता॥

इस विधि का पूर्व प्रचलित रूप वह है जिसमें श्याम पट पर छोटे चित्रों के साथ एक एक अक्षर लिखकर बालक के सामने उपस्थित किया जाता है या ऐसी ही पुस्तकें दे दी जाती हैं जिनमें वह क माने कबूतर ख माने खरगोश आदि कह कह कर रटता रहता है और क्रमशः अभ्यस्थ हो जाता है। इसकी निरर्थकता और अमनोवैज्ञानिकता को दूर करने के लिये ही पूरे शब्दों या वाक्यों द्वारा यह कार्य किया जाने लगा है।

५—नवीन बिधियों में डाक्टर मानटेशरी द्वारा प्रचारित लेखन-शिक्षण की बिधि महत्वपूर्ण है। 'वाचन शिक्षण' में उद्धृत मानटेशरी विधि द्वारा जब बालक खेल खेल में अक्षरों का रूप पहचानने लग जाता है, तो उन खेलों में कुछ परिवर्तन करके उसे लेखन की ओर आकर्षित किया जाता है, यद्यपि यह कार्य भी खेल ही द्वारा होता है। मान लीजिए बालक ग म भ झ आदि अक्षर पढ़ लेता है

किन्तु लिख नहीं सकता। इस स्थित में उसके दूसरे सहयोगी उसकी आँखों में हल्की पट्टी बाँध देते हैं और उन्हीं अक्षरों के लकड़ी या दफ्ती आदि के उभरे हुए रूपों को उस बालक द्वारा स्पर्श कराते हैं। यह कह दिया जाता है कि 'देखें (स्पर्श द्वारा) कौन इनको पहिचान लेता है'। बालक स्पर्श द्वारा मस्तिष्क में पूर्व-चित्रित अक्षरों के तुलनात्मक ज्ञान से उन अक्षरों की पहिचान करने में बड़ा आनन्द अनुभव करता है और बार बार उन अक्षरों पर हाथ फेरते रहने से प्रायः सभी उन अक्षरों के लिखने में इस खेल प्रणाली द्वारा शीघ्र सफल हो जाते हैं। (विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'शिक्षा-सिद्धान्त' अध्याय ६)।

६—फ्रोबेल महोदय की 'किंडरगार्टन' विधि भी लेखन-शिक्षण में बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। इस विधि में प्रयुक्त होनेवाले लकड़ी के चित्रित टुकड़ों आदि खेल के अनेक साधनों द्वारा घर, मन्दिर या मीनार इत्यादि बनाते हुए बालक अनेक अक्षरों के लिखने में सफल हो जाता है। उन चित्रित टुकड़ों से अध्यापक उन्हें प्रायः ऐसी ही वस्तुएँ बनाने को कहता है, जिनमें उसके वांछित वर्ण-रूप का प्रयोग हो।

भारतीयों द्वारा चलाई गई लेखन-शिक्षण-विधियों में श्रीयुत सखा राम चौबे की पुस्तक 'वर्ण-प्रबोध' में प्रयुक्त विधि, पण्डित देवी-दत्त की 'बालोद्यान-मंजूषा' तथा आ. सीताराम चतुर्वेदी की मोहन-पेटी महत्त्वपूर्ण है:—

पहिली में पद्यों द्वारा अक्षर लिखने की विधि बताई गई है। इन पद्यों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उनसे सम्बन्धित चित्र तथा वर्ण-चित्र भी इन पद्यों के ऊपर दिये जाते हैं। नियम पद्यमय होने से बच्चे प्रसन्न चित्त से उन्हें कण्ठाग्र कर लेते हैं। तब अध्यापक उन पद्यों के भिन्न भिन्न अंशों के अर्थ के सहारे (जो एक ही वर्ण

के निमित्त होते हैं) बालकों से अक्षर बनाने का अभ्यास कराता है। यथा—कटहल के चित्र के ऊपर क (मोटा अक्षर) लिखा होगा नीचे कटहल शब्द लिखा होगा विधि कुछ इस प्रकार होगी—

खड़ी छड़ी तुम एक बनाओ।
गोला बायें बीच लगाओ॥
उसके दायें दुम लटकाओ।
'क' कटहल का लिखकर लाओ॥

आदेश पद्यात्मक होने के कारण बालक सरलतापूर्वक कण्ठाग्र कर लेता है, किन्तु उसका अर्थ समझना उसकी शक्ति से बाहर की बात है (कम से कम उस अवस्था में)। तो भी अध्यापक की सहायता से वह आंशिक सफलता अवश्य प्राप्त करता है।

दूसरी में लकड़ी के चौबीस टुकड़े रहते हैं। इन टुकड़ों से अनेक वर्णों का निर्माण कर सकना बच्चों के लिये सम्भव हो जाता है। विशेष मनोरञ्जन की बात यह है कि इन टुकड़ों से कितने ही जीव जन्तु तथा अन्य वस्तुओं के रूप खड़े किये जा सकते हैं, जिनसे बालक का कुतूहल बढ़ता है और उसे इस खेल में आनन्द का अनुभव होता है। इस खेल के अभ्यास में ही उसके लेखन सीखने की क्रिया निहित है।

तीसरी आ. सीताराम चतुर्वेदी द्वारा आविष्कृत 'मोहन पेटी' है जिसका यह नाम स्वनाम धन्य पंडित मदनमोहन मालवीय के नाम पर रक्खा गया है। इस पेटी में एक स्लेट लगी है। उस पर लगी हुई पुस्तक के आगे खाँचीदार पटरियाँ हैं, जिनमें दफ्ती के टुकड़ों पर देव नागरी में भिन्न वर्ण, मात्राएँ तथा कुछ अति प्रचलित शब्द लिखे हैं। इसके द्वारा लेखन-शिक्षण का प्रथम रूप उन घरों में से अक्षर निकालकर उन पटरियों पर लगाने से प्रारम्भ होता है। बार

बार पूरा पृष्ठ रचने के कारण बालक उन अक्षरों से परिचित होकर उन्हें स्वतन्त्र रूप से लिखने का कार्य करने लगता है।

निष्कर्ष—पाश्चात्य विद्वानों द्वारा चलाई गई विधियों के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि वे भारतवर्ष जैसे देश और उसके निवासियों की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर नहीं वरन् इंगलैण्ड, अमेरिका आदि देशों और उनके निवासियों की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर चलाई गई हैं। 'वाचन-शिक्षण' विधि में वर्णित 'भाषा-शिक्षण-यन्त्र विधि' तथा अन्य विधियों में हमने यह देखा कि वे जिन साधनों की आवश्यकता उपस्थित करती हैं, वे अत्यन्त व्यय-साध्य हैं और भारत जैसे देश की वर्तमान परिस्थिति में इसे अप-व्यय भी कहा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार उनके द्वारा प्रचारित 'लेखन-विधियाँ' भी बहुत बड़ी आर्थिक कठिनाई उपस्थित करती हैं। इसीलिये इन बिधियों का प्रयोग आज के भारत में हो सकना नितान्त असम्भव सा है। धन सम्बन्धी व्यय के अतिरिक्त वे आवश्यकता से अधिक समय भी माँगती हैं जो दूसरे अर्थों में कंगाल देश के लिये आर्थिक हानि के रूप में ही प्रकट होता है। यद्यपि उनकी मनोवैज्ञानिकता, मनोरञ्जकता और बालकोचित आकर्षण आदि में कोई सन्देह नहीं है, तो भी भारतीय जनता का चिन्तन-स्तर अभी इस सीमा तक नहीं पहुँचा है कि वह इनका उचित मूल्यांकन कर सके तथा इतना अधिक समय लगाकर अपने बालकों को इन विधियों द्वारा शिक्षित होने का सुयोग-प्रदान करे। यही कारण है कि इन व्ययसाध्य विधियों का प्रचार साधारणतः राजकीय अथवा अधिकांश अन्य स्कूलों में न हो कर केवल थियोसाफिकल सोसायटी के कतिपय स्कूलों में ही देखने को प्राप्त होता है।

कुछ भी हो आज का अध्यापक इन विधियों में से किसी की सहायता लेने के लिये स्वतन्त्र है। इतना आवश्यक है कि इनके

चुनाव में वह यथासम्भव विद्यार्थी की रुचि, योग्यता तथा सुविधा का ध्यान पहिले रक्खे और अपनी कठिनाइयों का पीछे। सबसे अधिक ध्यान इस बात का रखना होगा कि अध्यापक का लक्ष्य खेल या मनोरञ्जन सिखाना नहीं उनके द्वारा लेखन सिखाना है।

अध्याय ७

सुवाचन और सुलेखन के कुछ नियम

हम वाचन और लेखन की शिक्षा सम्बन्धी बिभिन्न प्रणालियों पर विचार कर चुके। अब यहाँ हम इस बात पर विचार करेंगे कि सुवाचन और सुलेखन के लिये प्रारम्भ में किन नियमों का ध्यान रखना आवश्यक होगा।

सुन्दर वाचन—विद्यार्थी में वाचन की उचित योग्यता उत्पन्न करना अध्यापक की व्यक्तिगत योग्यता पर भी बहुत अंशों में अवलम्बित है। ऊँची कक्षाओं के अध्यापक बालक के वाचन-विकास की प्रस्तुत उर्वरा भूमि पाते हैं, सरलतापूर्वक उत्पादन करते हैं। कठिनाई तो उन लोगों को ही पड़ती है जो आवश्यक खाद डालकर यत्नपूर्वक बार बार जोत कर उस विकास-क्षेत्र को उत्पादन के लिये उर्वर बनाते हैं। प्रारम्भिक कक्षाओं का अध्यापक यदि बालक में वाचन के उचित गुण न उत्पन्न कर सका तो भविष्य में चलकर (ऊँची कक्षाओं में) उसके सुधारने की आशा नहीं की जा सकती। इसीलिये नियमों और विधियों का अधिक ध्यान रखना प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिये ही अधिक आवश्यक है:—

१—पुस्तक बायें हाथ में लेनी चाहिए।

२—अँगूठा और कनिष्ठा आगे तथा शेष तीन उँगलियाँ पीछे हों।

३—पुस्तक हथेली पर इस प्रकार खड़ी हो कि सीधी हथेली से पीछे की ओर लगभग ४५° का कोण बनाये।

४—पुस्तक और नेत्रों के बीच लगभग १२–१४ इंच का अन्तर होना चाहिए।

इन नियमों में स्थिति और आवश्यकता के अनुकूल परिवर्त्तन किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—मान लीजिये पुस्तक बहुत लम्बी चौड़ी है और बालक बहुत छोटा है—जैसा कि आजकल छोटे बच्चों के लिए बेसिक रीडर का प्रचलन है। इस अवस्था में वे बच्चे दोनों हाथों से पुस्तक पकड़ सकते हैं। यदि पुस्तक बहुत मोटी हो, तो भी एक हाथ और उँगुलियों का नियम उसके लिये आवश्यक न होगा। इसी प्रकार यदि पुस्तक के अक्षर अत्यधिक मोटे हों तो अन्तर के चतुर्थ नियम का पालन करना आवश्यक नहीं है। तात्पर्य यह कि सुविधा के अनुकूल परिवर्त्तन करने के लिये तथा अनावश्यक सुविधा से बचाने के लिये अध्यापक की स्वतन्त्र बुद्धि ही सहायक होगी।

५—पढ़ते समय उचित शब्द-समूह का एक बार उच्चारण करने के लिये शब्दों के उचित सम्बन्ध का ध्यान रखना चाहिए जिससे अर्थ का अनर्थ न हो। मान लीजिये एक वाक्य पढ़ना है—कहिये ! पण्डितजी आपही हैं ? यहाँ यदि शब्द-समूहों का चुनाव इसप्रकार किया जाय—(कहिए) (पण्डितजी) (आप ही हैं) तो पण्डितजी से हमारा पूर्व परिचय नहीं विदित होता। किन्तु यदि हम शब्द-समूह इस प्रकार चुनें—(कहिए पण्डित जी) (आप ही हैं) तो पण्डित जी से हमारा पूर्व परिचय निश्चित हो जाता है।

६—वांछित अर्थ स्पष्ट करने के लिए ध्वनि में आवश्यक ठहराव देना चाहिये (इसका उदाहरण पीछे दिया जा चुका है—क्या यह घोड़ा आप ने ५००) रुपये में खरीदा है)।

७—पढ़ने का स्वर ऐसा हो कि जिनके लिये पढ़ा जाय वे सरलता पूर्वक सुन सकें। श्रोता में ५० व्यक्ति होने पर ५०० व्यक्तियों के सुनने योग्य स्वर या ५०० की उपस्थिति में ५० के सुनने योग्य स्वर नहीं होना चाहिए। कभी कभी कुछ विद्यार्थी अनावश्यक रूप से उच्च अथवा मन्द स्वर में पढ़ने लगते हैं, जो प्रारम्भिक काल में न

सुधारे जाने पर भविष्य के लिए एक कुटेव का रूप धारण कर लेता है।

८—पढ़ने की गति साधारण होनी चाहिए। जो बालक आवश्यकता से अधिक मन्द या तीव्र गति से पढ़ते हैं उन्हें साधारण गति में लाने का प्रयत्न करना आवश्यक है, क्योंकि प्रायः बालक भ्रमवश बहुत तीव्र गति से पढ़ने में ही अपनी अधिक योग्यता समझते हैं और इतनी तीव्र गति से पढ़ते हैं कि न वे पठित विषय का अर्थ स्वयं समझ पाते हैं और न दूसरों को समझा सकते हैं। उनकी वाचन-गति का प्रारम्भ में ही ध्यान रखना आवश्यक है।

उक्त नियमों के अतिरिक्त भाषण के कुछ गुण जिनकी चर्चा पीछे के अध्याय में की गई है सुन्दर वाचन के लिए लाभदायक सिद्ध होंगे। वहाँ दिये गये उदाहरणों को भी इन नियमों के साथ ही देख लेना आवश्यक है।

सुलेखन-शिक्षण—जिस प्रकार निश्चित नियमों के अनुकूल सुन्दर वाचन में सफलता प्राप्त की जा सकती है उसी प्रकार सुन्दर लिखने का अभ्यास भी कुछ निश्चित नियमों से प्रतिबन्धित है, जो अनुभव-सिद्ध हैं और बालक की टेव को प्रारम्भ में ही सुन्दर बनाने के लिये आवश्यक हैं। कोई लिपि चाहे जितनी भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसके लिखने के लिए निश्चित प्रारम्भिक नियमों का ध्यान न रक्खा जायगा तो उसका सौन्दर्य क्रमशः घटते घटते असुन्दरता में परिवर्त्तित हो जा सकता है। हिन्दी भी इस विपत्ति से मुक्त नहीं है। उसके वर्ण इतने सुन्दर होए हुये भी अनेक हस्त-लिखित रचनायें शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से इस विभत्स रूप में हमारे सामने उपस्थित होती हैं कि उन्हें 'चीलर की टाँग' कहने वालों पर क्रोध नहीं आता। कोई कारण नहीं है कि हममें से अनेक युवक हिन्दी लिखने में जीवन का इतना लम्बा काल व्यतीत करके भी

उचित प्रकार से लिखना न सीख सकें। इससे भी बड़े दुर्भाग्य का विषय यह है कि जब उच्च कोटि का बौद्धिक विकास करके भी कुछ इने गिने विद्वान अपना लेखन सुन्दर न बना सके तो लोगों ने एक नियम सा बना लिया कि 'असुन्दर लेखन विद्वता और महानता का चिन्ह है।' आज ऊँची कक्षाओं में पहुँचे हुए कुछ विद्यार्थी अपनी लेखन-कला में केवल इसलिए उन्नति करने की चिन्ता नहीं करते कि यह उनकी विद्वता में वाधक नहीं है, यद्यपि सुलेखन के लाभों से वे सभी अवगत हैं। यदि हम प्रारम्भ से ही अपने बालकों के सुलेखन का ध्यान रक्खें तो ऐसी निराशा-जनक स्थिति भविष्य में उपन्न ही न होगी:—

१—सबसे पहिले हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बालक किस प्रकार बैठा है।

क—वह सामने रक्खी हुई मेज चौकी या पटरी पर इतना झुक जाता है कि उसके मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) के उचित विकास में वाधा पहुँचने के साथ ही लेखन पर भी अनुचित प्रभाव पड़ता है।

ख—उसके नेत्र पटरी या कागज को इतने निकट से देखने का कार्य करते हैं कि उनकी दृष्टि का अनावश्यक ह्रास होने के साथ ही अक्षरों के आकार और अन्तर पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

ग—वह पैरों को इस प्रकार मोड़ लेता है कि लिखने का कार्य वैज्ञानिक दृष्टि से असुविधा-जनक हो जाता है, यद्यपि वह तात्कालिक सुविधा के लिए ही ऐसा करता है। ये तीनों अवस्थायें स्वास्थ्य की दृष्टि से तो घातक हैं ही, सुलेखन की दृष्टि से भी हानि-कारक हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी हानि की चर्चा स्वास्थ्य-रक्षा का विषय है। लेखन की दृष्टि से उनका उचित रूप इस प्रकार होना चाहिये:—

क—किसी भी अवस्था में बैठे हुए बालक की रीढ़ की हड्डी का सीधा रहना अनिवार्य है। आगे की ओर झुककर बैठने से इस हड्डी

पर जो हानि पहुँचती है वह हमारे भावी जीवन में लेखन सम्बन्धी आलस्य और मन्द गति के रूप में प्रकट होती है। उदाहरणार्थ जहाँ सीधे बैठने वाले यूरोपीय बालक १० से १ और २ से ५ तक अर्थात् थोड़ा विश्राम लेकर लगातार छः घंटे लिखने पढ़ने का कार्य कर सकते हैं और युवा अवस्था में पहुँच कर १० से ४–५ बजे तक बिना विश्राम किये छः सात घंटे लिखने पढ़ने के कार्य में सरलता पूर्वक व्यतीत कर सकते हैं, वहाँ हमारे देश के बालक प्रारम्भ से ही झुक कर बैठने की कुटेव डाल लेने के कारण घंटे में दश बार शरीर के विभिन्न अंगों की स्थिति में परिवर्तन करते रहते हैं। कभी दोनों पैर मोड़ कर बैठते हैं, कभी दोनों टाँगे फैला देते हैं, कभी एक हाथ गाल के नीचे टेक लेते हैं तो कभी पूरा शरीर ही कागज या पटरी के समानान्तर सीधी रेखा में कर देते हैं। ऊँची कक्षाओं में चल कर अध्यापक के सौ बार कहने पर तथा स्वयं चाहने पर भी वे सीधे नहीं बैठ सकते। आगे के लेखन सम्बन्धी जीवन में घण्टे में दो बार एक कुर्सी पर बैठकर दूसरी कुर्सी पर पैरों को टिका देना या मेज के ऊपर पैरों को फैला देना अथवा मेज पर सारे शरीर का बोझ टिका देना उनकी साधारण टेव हो जाती है।

इनके अतिरिक्त बचपन में रीढ़ की हड्डी के झुक जाने से मानसिक विकास में भी बाधा पहुँचती है। लेखन का कार्य कलात्मक होने से यह आवश्यक है कि शरीर को एक निश्चित कोण के झुकाव में ही रखकर लिखने का कार्य किया जाय। इससे लेखन की गठन एक ही रूप में सीमित हो जाती है, जो सौन्दर्य का एक अंग है। इसके विपरीत भिन्न २ शारीरिक स्थिति में बैठकर लिखने से भिन्न भिन्न प्रकार के लेख हो जायँगे। उनकी एकरूपता नष्ट हो जायगी। और अनेक रूपों में अनिश्चित गति से परिवर्तित होते रहने पर लेखन कभी सुन्दर नहीं हो सकता।

ख—अनावश्यक रूप से झुक कर कागज या पटरी को अत्यन्त निकट से देखकर लिखने की अवस्था में अक्षरों के आकार पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि लिखते समय उँगुलियों और कन्धे के बीच लगभग १००° का कोंण बनना चाहिए किन्तु झुक जाने की अवस्था में वह कोंण छोटा हो जाता है। फलतः जिस आकार का अक्षर होना चाहिए उससे छोटा लिखने में ही सन्तोष होने लगता है क्योंकि नेत्रों की शक्ति प्रारम्भ में प्रायः सबकी एक सी रहती है और अधिक निकट से देखने में छोटे अक्षर उतने ही छोटे नहीं दिखाई देते। यह दूसरी बात है कि यदि लम्बे समय तक कुटेव रह जाती है तो दृष्टि घट जाती है। आज कल अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं जिनके अक्षर आवश्यकता से अधिक छोटे होते हैं। कुटेववश बाध्य होकर उन्हें उसी में सौन्दर्य दिखाई देने लगता है। मेरे एक मित्र सोलह पंक्तियों वाली कापी में बत्तीस पंक्तियाँ लिखे बिना असन्तुष्ट रह जाते हैं। उनके पत्रों के पढ़ सकने के विषय में उनके प्रायः सम्बन्धियों को कुछ न कुछ आपत्ति अवश्य होती है।

तात्पर्य यह है कि बालक को लेखन के इस दोष से मुक्त करने के लिए और कुटेव से बचाने के लिए यह ध्यान रखना चाहिए कि लिखते समय उसकी उँगुलियों और कन्धों के बीच १००° से कम कोंण न बने। यह कोंण साधारणतः ११०° से अधिक भी नहीं होना चाहिए। नेत्रों और पढ़ी जाने वाली वस्तु के बीच १२–१४ इञ्च के अन्तर का नियम पहिले बताया जा चुका है। लेखन-कार्य में यह दूरी १४″–१६″ हो सकती है।

ग—प्राचीन काल से ही वीरासन से बैठकर लिखने का नियम चला आ रहा है। यह पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। मेरु-दण्ड को सीधी रख कर, बायाँ पैर मोड़कर और दाहिने के घुटने पर पटरी आदि रखकर लिखना चाहिए। इससे नियम क और ख का भी उचित

रूप से पालन होता है और साथ ही लेखनी पर पूरा अधिकार रहता है।

२—बालक को प्रारम्भ में सरकंडे, किलिच या नरकट की जो लेखनी दी जाय वह पटरी आदि पर प्रथम मास में '३" मोटे तृतीय मास से '२५" और अष्टम मास में '२" मोटे अक्षर लिख सके। पूरे अक्षर की माप क्रमसः १'५", १" तथा '७५" होना सुन्दर है। लेखनी की जीभ लगभग २२'५° के कोण पर कटी होनी चाहिए। इससे लिखने में सुविधा होने के साथ ही अक्षरों के सुडौल होने में सहायता मिलती है और पाई के ऊपर तथा अक्षरों के नीचे लगने वाली मात्राओं को उचित रूप प्राप्त होता है।

३—यह ध्यान रखना चाहिये कि बालक लेखनी पकड़ने में अंगूठा तर्जनी तथा मध्यमा तीनों उँगुलियों से सहारा लेता है (नकि केवल तर्जनी और अंगूठे से) शेष दो उँगुलियाँ भीतर की ओर मुड़ी हुई होनी चाहिए, जिसमें कनिष्ठा का कागज या पटरी को छूते र;ना आवश्यक है।

४—'बालक की लेखनी कागज या पटरी पर लिखते समय अपनी पूरी जीभ का प्रयोग कर रही है'—इस बात की ओर सतर्क रहना चाहिए, अन्यथा अनेक प्रयत्न करके भी वह अपने लिखने को आकर्षक नहीं बना सकता।

अक्षरों के पूरे चित्र के प्रत्येक अंग का निश्चित और अनुकूल अनुपात में होना आवश्यक है जैसे ग की पहली खड़ी पाई १$\frac{1}{2}$" की हो और उसका मुड़ा हुआ भाग १" के अर्धव्यास का, तो अक्षर देखने में कभी सुन्दर न लगेगा।

एक ही शब्द के भिन्न भिन्न अक्षरों का और एक ही पंक्ति के भिन्न भिन्न शब्दों का माप साधारणतः एक सा होना चाहिए।

७—यदि एक पंक्ति के ऊपर की पाई तथा नीचे के भाग से होकर दो सीधी रेखाएँ खींचें तो वे समानान्तर हों।

८—शब्दों के किन्हीं दो अक्षरों के बीच में एक निश्चित किन्तु कम से कम अन्तर तथा दो शब्दों के बीच में क अक्षर के घेरे का अन्तर होना चाहिए (इस घेरे में अक्षर के चारों ओर का मुक्त स्थान भी हो)। इससे लेखन की एक रूपता को स्थायित्व प्राप्त होता है।

९—प्रारम्भ से ही पटरी या कागज का कुछ अंश ऊपर तथा कुछ वाईं ओर हाशिये के रूप में छोड़ देना आवश्यक है।

१०—दो पंक्तियों के बीच में उतना ही अन्तर छोड़ देना चाहिये जितनी पंक्ति के अक्षरों की ऊँचाई है।

यह सम्भव ही नहीं बरन् निश्चित सा है कि बालक के लिये प्रारम्भ में इन नियमों का आवश्यक ध्यान रखना कठिन होगा और अध्यापक के लिये भी हर समय उसकी ओर सतर्क रहना सरल नहीं—किन्तु सतत अभ्यास तथा आदर्श लेखन उपस्थित करते रह कर बालक को सुलेखन की ओर आकर्षित किया जा सकता है। इन सभी अवस्थाओं में अध्यापक के लेखन का सौंदर्य-पूर्ण होना आवश्यक है, क्योंकि बालक को उसके द्वारा उपस्थित किये गये आदर्श का ही अनुकरण बार बार करना पड़ता है। हाँ, इस सम्बन्ध में वह अपने अन्य सहयोगियों द्वारा लिखे आदर्श लेखों तथा कभी कभी छपे हुए सुन्दर अक्षरों का प्रदर्शन करके उनका आकर्षण बढ़ा सकता है और सुन्दर अनुकरण के लिये प्रोत्साहित कर सकता है।

शुद्ध और सुडौल होने का ध्यान रखने के साथ ही कुछ समय के पश्चात शीघ्रता के साथ लिख सकने की टेव डालना भी आवश्यक है। जब वालक भूमि से पटरी पर और पटरी से कागज पर लिखने का अभ्यास करने लग जाता है और कुल वर्णों तथा मात्राओं से

परिचय प्राप्त कर लेता है, उस अवस्था में आगे कुछ और कार्य भी उसकी शुद्धता और शीघ्रता बढ़ाने और उसकी गति की परीक्षा करते रहने के लिये आवश्यक होंगे—जैसे प्रतिलिपि और श्रुतलेख आदि।

प्रतिलिपि कराते समय जो बातें उनके सामने उपस्थित की जाँय वे यदि प्रारम्भ में पद्यात्मक हों तो अति लाभदायक होंगी। किसी भी अवस्था में तत्सम्बन्धी गद्य या पद्य बालक की भावनाओं, प्रवृत्तियों और अनुभव से बहुत दूर का नहीं होना चाहिये।

श्रुतलेख में शीघ्रता और शुद्धता का ध्यान रखने के साथ ही अक्षरों की सुडौलता का ध्यान रखना भी आवश्यक है। प्रायः बालक इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि अध्यापक जो कुछ बोलता है वह सब शुद्ध रूप से लिख लेना ही श्रुतलेख का उद्देश्य है। ऐसी शुद्धता और शीघ्रता व्यर्थ है जो हमारे लेखन का सौन्दर्य नष्ट कर दे। अतएव ऊपर बताये गये सभी नियमों का पालन प्रतिलिपि और श्रुतलेख आदि में होते रहना अनिवार्य है। कक्षा एक और दो (बेसिक पाठशाला उत्तर प्रदेश) में शुद्धता और सुडौलता पर ही अधिक ध्यान देना चाहिये। शीघ्रता का ध्यान कक्षा तीन या उसके पश्चात् ही रखना अधिक अच्छा होगा।

अध्याय ८

रचना-विकास

रचना शब्द का प्रयोग साधारणतः सँवारने, सजाने तथा विचार पूर्वक क्रम-वद्ध करने के अर्थ में होता है।

जेहि विरंचि **रचि** सीय सँवारी।
तेहि श्यामल वर **रचेउ** विचारी॥
असकहि चला **रची** मग काया।
सर मन्दिर वर बाग बनाया॥

रचना में निर्माण की क्रिया का और निर्मित वस्तु दोनों का भाव है यथा—'कवितावली रामचरित्रमानस से पहिले रची गई' 'यह उनकी अद्वितीय रचना है।' हम रचना शब्द का प्रयोग इन दोनों के लिए एक साथ करेंगे।

रचना शब्द बड़ा ही व्यापक है। वह कला के किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित हो सकता है। किन्तु यहाँ हम उसे केवल भाषा के क्षेत्र (मौखिक तथा लिखित) में ही और विशेषतः लेखन-कला के रूप में ही सीमित रक्खेंगे क्योंकि उसके मौखिक रूप पर पीछे के पृष्ठों में विचार किया जा चुका है।

इस प्रकार यहाँ हम निश्चित उद्देश्य को लिपिवद्ध करने के निमित्त की गई सार्थक और कलात्मक अभिव्यक्ति को रचना कहेंगे।

जब बालक लेखन और सुलेखन के नियमों के अनुकूल अपने को इस योग्य बना लेता है कि वह कुछ लिख सके तब अध्यापक को

इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वह बालक को रचना के विभिन्न नियमों का ध्यान रखकर भावों को कलात्मक रूप से सजाने की शिक्षा दे, अन्यथा वह अपने लेखन-कार्य का सफल तथा उत्साह-वर्धक प्रयोग न कर सकने के कारण न अपने विचारों को स्पष्ट रूप से दूसरों को समझाने के लिए क्रमबद्ध और लिपिबद्ध कर सकेगा और न दूसरों के लिपिबद्ध विचारों का वांछित अर्थ समझ सकेगा। लेखन सम्बन्धी इस क्रमिक उन्नति को ही हम रचना-विकास कहते हैं।

लिखित रचना के उद्देश्य—उक्त दृष्टि से संक्षेप में निम्न लिखित क्षमताएँ प्रदान करना ही रचना-शिक्षण का उद्देश्य है:—

१—निश्चित विचारों को लिखित भाषा द्वारा पूर्णरूप से व्यक्त कर सकने की क्षमता।

२—दूसरों की लिपि-बद्ध भावाभिव्यक्तियों को समझने की क्षमता।

३—विभिन्न प्रकार की प्रचलित लेखन-शैलियों की समानता और असमानता का ज्ञान करके अपनी स्वतन्त्र शैली का सृजन करने की क्षमता।

४—अभ्यास द्वारा बड़ी से बड़ी बात को भी संक्षिप्त रूप में लिख कर स्थायी बनाने की क्षमता।

५—स्थायी साहित्य का सृजन कर सकने की क्षमता।

लिखित-रचना की विशेषताएँ और रचना-शिक्षण में उनका ध्यान—

१—लिखित बात का स्थायित्व—मौखिक रचना से अत्यधिक महत्व लिखित रचना को दिया जाता है। जब बालक कुछ मौखिक रचना करने योग्य हो जाता है और लेखन से परिचित हो जाता है तब हम उसे लिखित रचना का महत्व समझाते और उसके अनुकूल

लेखन-कार्य करने की शिक्षा देते हैं। बोल चाल में वह जो कुछ भी कह जाता है, वह तुरन्त हवा में मिल जाता है। वह क्या कह गया इसकी पुनः छान-बीन करने के लिये उसी के मुख से वे ही बातें उसी रूप में फिर निकल सकेंगी या नहीं इसमें सन्देह है। दूसरों के लिए तो इस बात का प्रमाण देना नितान्त असम्भव है कि इस व्यक्ति के मुख से अमुक बात अमुक रूप में ही निकली थी। यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में यह भी असम्भव कार्य नहीं है, तथापि साधारणतः कही या सुनी बात को उसी रूप में पुनः उपस्थित कर सकना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि लिपि-बद्ध न हो सकने के कारण उनमें स्थायित्व नहीं होता। लिखित रचना की स्थिति इसके विपरीत है। आप ने एक बार जो कुछ लिख दिया उसमें आप के विचार लिपिबद्ध हो गये—लिखित शब्दों में सीमित हो गये और स्थायी हो गए। अब यदि आप यह कहना चाहें कि "हमने अमुक नहीं अमुक बात कही थी" तो आपका कथन आपकी लिखित बात के अनुकूल न होने से आप पर मिथ्या भाषण आदि किसी भी प्रकार का दोष लगाने के यथेष्ट प्रमाण लिखित रूप में उपस्थित मैं। यह स्थिति यह स्पष्ट कर देती है कि लिखित बात का उत्तरदायित्व मौखिक बात से बहुत अधिक है और इस आधिक्य का कारण लिखित बात का स्थायित्व ही है। अतएव हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक का रचना-विकास इस क्रम से हो कि एक बार कुछ निश्चित करके लिखने के पश्चात् पुनः विचारों में ऐसे परिवर्त्तन का स्थान न रह जाय कि उसे उस लिखित बात को काट कर पुनः पुनः लिखना पड़े क्योंकि इससे उसके विचारों की दुर्बलता प्रकट होने के साथ ही उसकी अभ्यास पुस्तिका गन्दी हो जायगी और समय का बड़ा अपव्यय होगा।

२—<u>लिखित रचना के विषय की सीमा</u>—आम के विषय में लिखते समय बीच में ही इमली के विषय में न लिखने लग जाय

इस बात का ध्यान भी रचना-शिक्षण में रखना होगा। प्रारम्भिक विद्यार्थी लेखन-कला में इतना अभ्यस्त नहीं रहता कि वह अपने विचारों को विषय से सम्बन्धित रखने की ओर अबाध गति से सतर्क रहे क्योंकि उन विचारों को टूटी फूटी भाषा में भी रखने के लिए उसे शब्दों की खोज करनी पड़ती है, उनको वाक्यों में व्यवस्थित करना पड़ता है और इसके साथ ही लिपि सम्बन्धी अशुद्धियों का ध्यान भी रखना पड़ता है। इन कार्यों में तल्लीन रहने के कारण विषय से दूर जाकर आम के स्थान पर इमली का वर्णन करने लगना उसके लिए साधारण बात है। इसलिये प्रारम्भ में विद्यार्थी को यह बताना आवश्यक हो जाता है कि वह लिखने और सोचने दोनों कार्यों को एक साथ निभाने के लिए किस प्रकार अग्रसर हो।

३—विभिन्न प्रकार की रचनाओं के अन्तर का ज्ञान—यह सम्भव है कि विद्यार्थी भ्राता या पिता को पत्र लिखना सीख चुका हो और उसका कुछ अभ्यास भी कर चुका हो, तत्पश्चात् जब प्रधानाध्यापक से किसी कार्यवश दो चार दिन का अवकाश माँगना हो तो उसी ढंग से पत्र लिख भेजे। यह भारी भूल होगी, क्योंकि प्रार्थना पत्र नितान्त भिन्न वस्तु है, यद्यपि वह भी एक प्रकार का पत्र ही है। इसी प्रकार नौकरी के मिमित्त आवेदन-पत्र, क्रय विक्रय से सम्बन्धित व्यापारिक पत्र, राजनीतिक आज्ञापत्र तथा पत्र-सम्पादक को भेजे जाने वाले समाचार आदि सम्थन्धी पत्र भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। उनके भिन्न भिन्न लिखित स्वरूप हैं। अतएव सबके रूपों का अलग अलग ज्ञान रखने की आवश्यकता है।

४—रुचि के अनुकूल साहित्यिक प्रतिभा का विकास—इसी प्रकार कुछ और आगे चलकर उसे व्यवहारिक साहित्य, कथा-साहित्य, नाट्य-साहित्य, तथा समीक्षा-साहित्य आदि भिन्न प्रकार की रचनाओं के भिन्न-स्वरूपों का ज्ञान रखने की आवश्यकता पड़ती है

जिससे लिखित-रचना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है। जहाँ तक इनके अन्तरों का साधारण ज्ञान करा देने का प्रश्न है, सामान्यत: सभी बालकों को किसी न किसी रूप में करा दिया जा सकता है। किन्तु भिन्न भिन्न रुचियों और योग्यताओं के कारण यह सम्भव नहीं है कि सभी बालक इनमें से कथा-साहित्य अथवा समीक्षा-साहित्य आदि किसी एक विषय में ही पारंगत बनाये जा सकें और उसी क्षेत्र में उनकी प्रतिभा का विकास हो। इसलिए किसी एक प्रकार के साहित्य का ज्ञान कराने से उनकी प्रतिभा की दिशा नहीं निर्धारित की जा सकती। उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द्र प्रतिभा-शाली कथाकार ही बन सकते थे, साहित्य-समीक्षक नहीं और आचार्य रामचन्द्रशुक्ल सफल समीक्षक ही बन सकते थे कथाकार नहीं। इसलिये इन सभी भिन्न प्रकार के साहित्यों को उनके भिन्न रूपों में बालक के समक्ष उपस्थित करके ही उसकी रुचि के अनुकूल लिखित रचना की उच्च कोटि की प्रतिभा की ओर उसे उन्मुख किया जा सकता है।

५—मौखिक रचना को शुद्ध और क्रमबद्ध करने में सहायता—लिखित रचना में उक्त विभिन्न विशेषताओं के साथ ही एक विशेष गुण यह भी है कि बालक जिस वक्तृता, वाख्या अथवा वादविवाद को प्राय: व्यतिक्रम तथा तारतम्य-हीनता के दोषों से भर देता है, लिखित रचना द्वारा उसका उत्तम रीति से सुधार हो जाता है। जब उसे उस वक्तृता व्याख्या अथवा वाद-विवाद के विषय को प्रथमत: लिखित रूप देकर यह निश्चित कर लेने की टेव दिलाई जाती है कि वह जो बातें कहने जारहा है उनकी रूप-रेखा क्या होगी, तो उस लिपि-वद्ध रूप को बार बार उसकी आँखों के सामने पड़ते रहने का अवसर मिलता है, जिससे उसमें आई हुई त्रुटियों का यथेष्ट सुधार हो जाता है और विचारों की क्रम-हीनता मूर्तिवान हो जाने के

कारण उसे खटकने लगती है। तब उसके क्रम तथा तारतम्य को व्यवस्थित रूप दिये बिना वह आगे नहीं बढ़ता। प्रायः देखा जाता है कि जिन लोगों को अपनी वक्तृता आदि के विषय की लिखित रूप-रेखा बोलने से पूर्व ही तैय्यार कर लेने की टेव नहीं होती वे विषय से अनभिज्ञ न रहते हुए भी लम्बे भाषणों में आँय, वाँय, साँय बोलते रहते हैं जिससे उनकी स्थिति श्रोता की दृष्टि में यदि सर्वदा नहीं तो बहुत दिनों तक अवश्य हास्यास्पद बनी रहती है। अतएव यदि लिखित-रचना को उत्तम मौखिक रचना के शोधन का आधार कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

रचना शिक्षण में अत्यधिक सावधानी—जैसा पीछे कहा जा चुका है, कुछ कारणों से यह आवश्यक हो जाता है कि हम लिखित रचना में मौखिक रचना से अधिक सावधान रहें, यद्यपि सावधानी की आवश्यकता दोनों में है।

१—लिखित शब्दों के स्थानीय मान का अन्तर—पीछे के पृष्ठों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भाषा भावों का अनुगमन करती है। किन्तु यह बात सभी स्थितियों के लिये सत्य होते हुए भी प्रारम्भिक स्थिति के लिये अधिक महत्व की है। आगे चलकर जब हमारा बालक भाषा पर एक सीमा तक अधिकार प्राप्त कर लेता है तब यह आवश्यक हो जाता है कि वह भाषा के उचित रूप तथा शब्दों के स्थानीय महत्व आदि का भी ध्यान रक्खे क्योंकि जिस प्रकार भाषा भावों का अनुगमन करती है उसी प्रकार अर्थ और भाव भी भाषा का अनुगमन करते हैं। इस दृष्टि से यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम प्रत्येक शब्द को उसकी आवश्यकता के अनुकूल तथा उचित स्थान पर प्रयोग करें, अन्यथा भावों में व्यतिरेक उत्पन्न हो जायगा।

स्थानीय महत्व की दृष्टि से शब्दों के अनियमित प्रयोग की कुटेव लोकोक्तियों तथा स्थानीय भाषा की कहावतों आदि के प्रयोग से पड़ जाती है। किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि हमारी साधारण बातचीत या लेख, रचना आदि लोकोक्ति नहीं बन जा सकती। इसलिए शब्दों के अनावश्यक स्थानान्तरित प्रयोग द्वारा अर्थ का अनर्थ ही हो सकता है, लाभ नहीं। लिखित बात में इसका अधिक ध्यान रखना इसलिए आवश्यक है कि साधारणतः लेखक पाठक के सम्मुख उपस्थित नहीं रहता, जिससे उसके भ्रम को दूर कर सके—जैसा मौखिक भाषा में (बोल चाल, भाषण आदि के समय) सम्भव है। शब्दों के इस भ्रामक और उत्तरदायित्व-विहीन स्थानान्तरित प्रयोग के कुछ उदाहरण निम्नलिखित है, जो भावों की बोध गम्यता में प्रायः हमारे समक्ष एक न एक कठिनाई उपस्थित करते रहते हैं। मान लीजिए अध्यापक ने श्यामपट पर एक वाक्य (मैंने रविवार को उसे १) दिया) लिखकर बालकों को ध्यानपूर्वक देख लेने के लिये कहा और तत्पश्चात मिटा दिया। उन्हें स्मृति से वही बात पुनः अपनी पुस्तिकाओं में लिखने की आज्ञा दी। कक्षा के अनेक विद्यार्थियों ने क्रमशः इस प्रकार लिखाः—

१—रविवार को मैंने उसे १) दिया।

२—उसे मैंने रविवार को १) दिया।

३— १) मैंने रविवार को उसे दिया। आदि।

यदि अध्यापक द्वारा लिखित वाक्य के अर्थ से विद्यार्थियों के इन वाक्यों के अर्थों की तुलना की जाय यो यह स्पष्ट हो जायगा कि एक विद्यार्थी ने भी उस साधारण भाव में वाक्य नहीं लिखा जिसमें अध्यापक ने लिखा था। विद्यार्थियों के वाक्यों में पहिले का भाव है—रविवार को मैंने उसे १) रु० दिया और अन्य दिन भी कुछ दिया (अर्थात् सोमवार को २) तथा मंगल को ५) आदि)। दूसरे

का भाव है—उसे मैंने रविवार को १) दिया, अन्य किसी को नहीं, (अर्थात् न मोहन को न सोहन को)। तीसरे का तात्पर्य है— १) मैंने रविवार को उसे दिया, शेष अभी नहीं दिया है या इससे कम अथवा अधिक नहीं। इस प्रकार शब्दों के स्थानान्तरित होते रहने से एक ही वाक्य के अनेक भाव हो जाते हैं। विद्यार्थी जिस भाव से लिखना चाहता है उसी प्रकार उसे वाक्य में शब्दों को स्थान देना चाहिए अन्यथा वह लिखेगा आम और पाठक समझेंगे इमली।

इसी प्रकार 'वृक्ष कोमल पत्तियों में अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ते थे' का अर्थ यह है कि साधारणतः वृक्ष सुन्दर थे, किन्तु कोमल पत्तियों ने उनकी सुन्दरता और बढ़ा दी थी। यदि इसे हम इस प्रकार लिखें 'कोमल पत्तियों में वृक्ष अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ते थे' तो तात्पर्य यह हो जायगा कि साधारणतः वृक्ष सुन्दर नहीं थे, किन्तु कोमल पत्तियों के कारण वे सुन्दर लग रहे थे।

'वह अच्छा रसगुल्ला बनाता है' का भाव है कि और लोगों का रसगुल्ला साधारण कोटि का होता है। किन्तु 'वह रसगुल्ला अच्छा बनाता है' का भाव है—उसकी बनाई हुई अन्य मिठाइयाँ (पेड़ा बरफी आदि) साधारण-स्तर की होती हैं'।

'चाचाजी पटने से एक चावल की मिठाई लाये थे' कहने से किसी को यह भ्रम हो सकता है कि 'क्या वह मिठाई एक ही चावल की थी?' यह सन्देह वहाँ ठीक नहीं है, फिर भी हम ऐसा सन्देह क्यों उत्पन्न होने दें। यदि हम 'एक' शब्द को उसके उचित स्थान पर रख दें तो कोई भ्रम न होगा—'चाचाजी पटने से चावल की एक मिठाई लाये थे।

१६४७ में जब एक ही छात्रावास हमारे पास था तो भी हमारे छात्राध्यापकों ने एक प्रार्थना-पत्र में लिखा था—हम निम्नलिखित छात्रावास के छात्राध्यापक। इसका अर्थ यह हो सकता था कि अनेक

छात्रावासों में से अमुक छात्रावास के छात्राध्यापक किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं थी। उन्हें लिखना चाहिये था—'छात्रावास के निम्नलिखित छात्राध्यापक।'

२—<u>भावों के अनुसार शब्दों का प्रयोग</u>—साधारणतः यह समझा जाता है कि हम जो कुछ बोलते या लिखते हैं वह हमारे भावों के ही अनुकूल होता है। यह बहुत अंशों में सत्य भी है। इसे पूर्णतः सत्य स्वीकार करना कठिन है। कभी कभी ऐसा होता है कि हम भ्रम, अज्ञानता या शीघ्रता के कारण कहते या लिखते तो वही हैं जो हमारे भाव हैं किन्तु श्रोता या पाठक के लिए उनका भाव दूसरा ही हो जा सकता है। श्रोता तो विचारों का उलट फेर करके अपने मन को सन्तुष्ट कर लेता है कि सम्भव है वक्ता ने अमुक नहीं अमुक बात कही हो। पर पाठक के सामने तो 'प्रत्यक्षं किं प्रमाणं' की स्थिति होती है।—वह अर्थ का अनर्थ कर बैठेगा। लिखित रूप में उपस्थित होने के कारण कुछ लोग उसका दुरुपयोग भी कर सकेंगे (जैसे वकील, बैरिस्टर आदि)।

एक बार बाल-पंचायत के प्रधान (बालकों की 'न्याय समिति') ने अमरनाथ नाम के बालक को कोई दण्ड देने की इच्छा प्रकट की और लिखा 'अमरनाथ दण्ड देने योग्य है'। उसने बड़ी भारी भूल की, क्योंकि यदि थोड़ा भी ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इस वाक्य द्वारा वांछित बात नहीं कही जा सकी। सम्भव है सरसरी दृष्टि से पढ़ने या सोचने वाले को उसमें भूल न दिखाई दे, किन्तु उसका ठीक अर्थ यह होगा कि अमरनाथ दूसरों को दंड देने की क्षमता रखता है। अतएव उक्त वाक्य का रूप इस प्रकार होना चाहिये—अमरनाथ दंड पाने (या दंडित होने) योग्य है। उसी प्रकार 'वह पुस्तक पढ़ने योग्य है' न लिखकर 'वह पुस्तक पढ़ी जाने योग्य है' लिखना ठीक है, यदि वह शब्द पुस्तक का विशेषण हो।

यदि 'वह' शब्द सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ हो तो पहिले वाक्य का आशय ठीक है।

'उस कार्यकारिणी में भारतीयों की संख्या उतनी ही थी, जितना दाल में नमक'। इस वाक्य का भाव होता है कि नमक कोई ऐसी वस्तु है जो किसी संख्या में (गिन कर) दाल में डाली जाती होगी, किन्तु यह बात ठीक नहीं है अतएव यह वाक्य इस प्रकार होना चाहिए—उस कार्य-कारिणी में भारतीय दाल में नमक के समान थे। अब यही वाक्य यदि इस प्रकार हो 'अंग्रेजी शासन की कार्य-कारिणी में भारतीय दाल में नमक के समान थे' तो कभी कोई यह अर्थ भी लगा सकता है कि जिस प्रकार दाल में नमक अधिक होने से वह खाई जाने योग्य नहीं रहती, उसी प्रकार यदि अंग्रेजी शासन की कार्य-कारिणी में अधिक भारतीय होते तो वह शासन करने योग्य न रह जाती। तब तो भीषण अनर्थ हो जायगा। इसलिए इस प्रकार की बातें लिखने से पहिले भली प्रकार सोच लेना चाहिए।

'मनुष्य के समान पक्षी भी अपनी रक्षा के लिए घोंसला बनाते हैं' लिखने वाले का भाव भले ही कुछ भी हो किन्तु (किसी अहिन्दी भाषी) पाठक को यह भ्रम हो सकता है कि मनुष्य कोई ऐसा जीव है जो अपनी रक्षा के लिये घोंसला बनाता है। इसलिए इस बात को स्पष्ट कर देना चाहिए कि जैसे मनुष्य अपनी रक्षा के लिए घर बनाते हैं वैसे ही पक्षी अपनी रक्षा के लिए घोंसला बनाते हैं।

३—दोहरे अर्थ युक्त वाक्यों के प्रयोग—कभी कभी हम और हमारे विद्यार्थी ऐसे वाक्य लिख जाते हैं जिनके दो अर्थ हो सकते हैं। ऐसे वाक्यों को सुनने में सम्भव है उसके दूसरे अर्थ का आभास न मिले किन्तु पढ़ने में तो वह दोष अवश्य स्पष्ट हो जायगा। इसलिए ऐसे दोष-युक्त प्रयोगों से बालक की रचना को मुक्त रखना चाहिए।

शरीर-विज्ञान के प्रश्नों का उत्तर देते हुए एक सातवीं कक्षा के विद्यार्थी ने लिखा 'उसकी नाक, कान के मध्य में होती है। यहाँ मैं उसका वांछित भाव समझ रहा था किन्तु वाक्य की गठन के दोष से उसे मुक्त नहीं कहा जा सकता था। किसी को कान में ही नाक होने का भ्रम हो सकता था। १९४९ की 'लेख प्रतियोगिता' में एक विद्यार्थी ने लिखा 'सरपंच पंचायत के सदस्य चुनेंगे'। यहाँ उसका तात्पर्य यही था कि पंचायत के सदस्य मिलकर सरपंच का चुनाव करेंगे, जैसा कि आगे की बातों से स्पष्ट था। किन्तु यदि इतने ही पर बात समाप्त हो गई होती तो बड़ी कठिनाई होती क्योंकि इसका यह भी अर्थ लग सकता था कि सरपंच ही पंचायत के सदस्यों को चुनेगा। एक लड़के ने प्राथमिक उपचार (फर्स्टएड) के एक प्रश्न के उत्तर में लिखा 'यह दवा घाव के पकने में भी सहायता पहुँचाती है।' उसका आशय यह था कि इस दवा से घाव का पकना (पूय-युक्त होना) भी रोका जा सकेगा। किन्तु स्पष्टतः उसका यह अर्थ भी लग सकता था कि यह दवा घाव का पकाना बढ़ायेगी।

यह तो हुई अर्थ सम्बन्धी द्विरुक्ति। शाब्दिक द्विरुक्ति भी ऐसे ही दोषों में एक प्रधान स्थान रखती है। कुछ लोग प्रायः लिखते हैं—'सिवा अभिमन्यु को छोड़कर चक्रव्यूह कोई नहीं भेद सकता था'; तमाम देश भर में यह शोक छा गया' 'कृपया आप ही पधारने का अनुग्रह करें' 'इसे वे अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझते थे' 'वे अबतक वापस नहीं लौटे' आदि। इन वाक्यों में सिवा, तमाम, कृपया, अपने तथा, वापस आदि शब्द इसी दोष के उदाहरण हैं।

४—<u>अस्पष्ट-वाक्य</u>—कभी कभी वाक्य को आदि से अन्त तक संतुलित न रख सकने के कारण उसमें अस्पष्टता का दोष आ जाता है, जिससे रचना के कितने ही आवश्यक स्थलों का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

एक विद्यार्थी ने लिखा—'बात बात पर बच्चों को पीटना, शिक्षा फैलाने में बड़ी वाधा है'। अंग्रेजी में भले ही यह वाक्य ठीक हो किन्तु हिन्दी में यह अस्पष्ट है (सम्भवतः विद्यार्थी ने किसी अंग्रेजी वाक्य का अनुवाद उद्धृत किया था)। यदि यही बात इस प्रकार लिखी जाती तो अधिक स्पष्ट होती—'बात बात पर बच्चों को पीटना शिक्षा के प्रचार में बड़ा वाधक है। कुछ ऐसे ही अस्पष्ट वाक्य आगे और भी थे—'हमारे कार्य में उन्नति होने के स्थान पर उसे खटाई में डाल दिया गया था।' 'जो विद्यार्थी एक ही विषय में अनुत्तीर्ण हैं, केवल उसी अपराध के कारण हम एक वर्ष नष्ट न करें' आदि। इन वाक्यों को पढ़ते ही उनके दोष प्रथमतः कानों को पुनः मस्तिष्क को खटकने लगते हैं। इनमें दोष आ जाने का कारण केवल यह था कि लिखनेवाला प्रारम्भ से अन्त तक अपने वाक्य का उचित संतुलन (निर्वाह) नहीं कर सका।

५—शिथिलता—कभी कभी वाक्य शुद्ध और भाव सीधे होते हुए भी हमारे वाक्य अनुचित संयोजकों द्वारा जोड़े जाने के कारण अथवा अत्यधिक लम्बे होने से शिथिल और अस्पष्ट हो जाते हैं। प्रयत्न करने पर भी वे समझ में नहीं आते।

एक पत्रिका के सम्पादकीय लेख में लिखा था 'यदि हम समाजवादियों की बातों की ओर सर्वदा कान बन्द किए रहेंगे तो उस स्थिति में जब देश के चारो ओर पूँजीवाद अपना सिक्का जमा लेगा, तब हमें उनकी सहायता न प्राप्त होगी जिनको आज हम ठुकरा रहे हैं'। यह वाक्य केवल इसलिए अस्पष्ट हो गया है कि इसमें शिथिलता का दोष है। यदि यही वाक्य इस प्रकार होता तो सम्भवतः अधिक सरलता पूर्वक बात समझ में आती और पाठक को झुँझलाहट भी न होती—'यदि हम समाजवादियों की बातों की ओर सर्वदा कान बन्द किये रहेंगे और उन्हें ठुकराते रहेंगे तो उस समय

हमें उनसे कोई सहायता न मिलेगी जब पूँजीवाद देश के चारों ओर अपना सिक्का जमा लेगा।'

इसी प्रकार एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा था 'वह किरायेदार कभी न कहता कि यदि हम घर छोड़ दें तो सच्चे ब्राह्मण नहीं, यदि हम उसे समझा देते कि इस घर को फिर से बनवाने की इतनी अधिक आवश्यकता है कि हमें उसे निकालना ही पड़ेगा।' यही वाक्य यदि थोड़ा ध्यान देकर लिखा गया होता या लिखकर पुनः पढ़ लिया गया होता तो इस प्रकार की शिथिलता तुरन्त दूर की जा सकती थी।

६—जटिलता—हमारी रचना के वाक्यों में विषयों के गूढ़ विवेचन के कारण कभी कभी ऐसी जटिलता आ जाती है जिसे प्रयत्न करके भी दूर नहीं किया जा सकता। किन्तु कभी कभी यह जटिलता व्यर्थ ही आ जाती है—असावधानी किंवा शीघ्रता के कारण। जब जटिलता में ही शिथिलता का दोष भी आ जाता है तब तो करेला नीम पर चढ़ जाता है।

एक छात्राध्यापक ने लिखा था—'नवयुग के शिक्षण-सिद्धान्तों में फ्रोबेल महोदय द्वारा परिचालित मनोरंजक खेलों द्वारा बालकों की रुचि, योग्यता और वातावरण के अनुकूल ऐसी शिक्षा देने को जिससे वे उस उत्साह पूर्वक आगे बढ़ें जिसे लोग भावी जीवन में उपयोगी समझते हैं, किंडर गार्टन पद्धति कहते हैं।'

दूसरे ने लिखा 'उस नदी के पार जहाँ अनेक नर भक्षी जीव जन्तु इस प्रकार विचरण कर रहे थे, मानो उन्हें वह स्वतन्त्रता मिल गई हो जिसके सम्बन्ध में 'अन्धेर नगरी अनबूझ राजा टका सेर भाँजी टका सेर खाजा' की लोकोक्ति चरितार्थ होती है, जाकर उन्होंने देखा—'

ऐसे दोषों से बचने के लिए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारे बालक प्रारम्भ से ही छोटे छोटे तथा प्रभावशाली वाक्यों में

अपने भाव प्रकट करने का यत्न करें और विचारों को अनावश्यक रूप से तूल न दें।

७—विभक्तियों के अव्यवस्थित प्रयोग—इसी प्रकार कभी कभी हमारे बालक छोटे वाक्यों को भी विभक्तियों के अव्यवस्थित प्रयोग से विकृत कर देते हैं। दशवीं कक्षा के एक छात्र ने एक लेख में लिखा था—'श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के, जिसने गत ५८ वर्षों से देश का पथ-प्रदर्शन किया है, अध्यक्ष का चुनाव लड़ने का निश्चय किया है।' एक छात्राध्यापक ने दूसरे को लिखा था 'आपकी कक्षा जिसे पहिले मैं पढ़ाता था, में वह निष्काशित छात्र पुनः ले लिया गया है।' भारतेन्दु जयन्ती समारोह में बैठे एक मित्र ने निकट के एक सज्जन को लिखा—खेद है कि इस सभा के सभापति श्री वियोगी हरि जो अब व्याख्यान समाप्त करके दाहिनी ओर कुर्सी पर बैठ गये हैं, की मधुमय वाणी का सुख आप न प्राप्त कर सके।'

सम्भव है इन वाक्यों में अंग्रेजी भाषा के कारण ही ये दोष आ गये हैं। जो भी हो, हिन्दी में ऐसे वाक्यों के प्रयोगों को प्रोत्साहन कभी न देना चाहिए।

८—अनावश्यक या निरर्थक शब्दों के प्रयोग—प्रायः देखा जाता है कि कुछ लोग वाक्यों में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं जिनकी या तो कोई आवश्यकता ही नहीं रहती या जो कुछ अर्थ ही नहीं रखते। ऐसे अनावश्यक शब्दों के प्रयोग से रचना को मुक्त रखना चाहिए। प्रायः विद्यार्थी (सम्भवतः अभिभावकों का अनुकरण करके) लिखते हैं—'उसने बड़ी वाली पुस्तक स्वयं ले ली और छोटी वाली हमें दे दी, 'लाल वाला घोड़ा सुफेद वाले से अधिक मूल्यवान था' आदि। कुछ उच्च शिक्षा प्राप्त लोग बेखटक ऐसा कहते रहते हैं। वे सम्भवतः नहीं जानते कि वे 'वाली' 'वाला' आदि शब्दों का निरर्थक प्रयोग कर रहे हैं।

'उन्होंने अपने मन में ऐसा सोचा', 'सावित्री ने सब अपने कान से सुना' आदि वाक्यों में 'अपने मन से' और 'अपने कान से' आदि शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं है।

'वे एक आँख के काने थे' 'मैं वहाँ न जा सका जहाँ कि आपने कहा था' आदि वाक्यों में 'एक आँख के' तथा 'कि' के प्रयोग व्यर्थ हैं।

६—<u>क्रियाओं के अनुचित प्रयोग</u>—'मैं घण्टों तक उनकी प्रतीक्षा देखता रहा'; 'कल शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द के आने की सम्भावना की जा रही है'; 'वे विद्यार्थी आचार्यजी की बड़ी श्रद्धा करते हैं'; 'बिड़ला ने माघ मेले में सौ कम्बल दान दिये' आदि वाक्यों में 'देखता रहा' 'की जा रही है' 'करते हैं' तथा 'दिये' क्रियाओं के प्रयोग त्रुटि-पूर्ण हैं। प्रतीक्षा देखी नहीं जाती— की जाती है क्योंकि उसमें रास्ता देखने का भाव उपस्थित है। सम्भावना होती है—की नहीं जाती। श्रद्धा रक्खी जाती है—की नहीं जाती और दान किया जाता है—दिया नहीं जाता क्योंकि उसमें देने का भाव निहित है।

अतएव इन वाक्यों में क्रिया का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए था—'मैं घण्टों तक उनकी प्रतीक्षा करता रहा' 'कल शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द के आने की सम्भावना है' 'वे विद्यार्थी आचार्यजी पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं' 'बिड़ला ने माघ मेले में तीन सौ कम्बल दान किये।'

इसी प्रकार हम और हमारे बालक अनेक क्रियाओं को अनुचित स्थानों में प्रयोग करते रहते हैं।

१०—<u>लोकोक्तियों के भ्रामक प्रयोग</u>—हम प्रायः यह बात भूल जाते हैं कि किसी लोकोक्ति के एक शब्द को भी हटाकर उसके स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग करने से उस लोकोक्ति का सम्पूर्ण महत्व नष्ट हो जाता है। फलतः हम लोकोक्तियों में इन हानिकारक परिवर्त्तनों से अपनी रचना को विकृत किया करते हैं।

अतएव इन वाक्यों में क्रिया का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए —'मैं घण्टों तक उनकी प्रतीक्षा करता रहा'; 'कल शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द के आने की सम्भावना है'; 'वे विद्यार्थी आचार्य जी पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं'; 'बिड़ला ने माघ मेले में तीन सौ कम्मल दान किये'।

इसी प्रकार हम और हमारे बालक अनेक क्रियाओं को अनुचित स्थानोंमें प्रयोग करते रहते हैं।

१०—लोकोक्तियों के भ्रामक प्रयोग—हम प्रायः यह बात भूल जाते हैं कि किसी लोकोक्ति के एक शब्द को भी हटाकर उसके स्थान पर दूसरे शब्दका प्रयोग करने से उस लोकोक्ति का सम्पूर्ण महत्व नष्ट हो जाता है। फलतः हम लोकोक्तियों में इन हानिकारक परिवर्त्तनों से अपनी रचना को विकृत किया करते हैं।

एक पत्रिका में लिखा था 'वे गला घोंट घोंट कर चिल्ला रहे थे।' लेखक ने गला फाड़ने के स्थान पर घोंटने का प्रयोग कर डाला। देखने में भूल साधारण सी है। जब मैं छात्राध्यापकों को इस भीषण भूल का फल समझा रहा था तो एक ने कहा 'घोंटना (जैसे भांग घोटना) फाड़ने से अधिक कोमल शब्द है इसलिए किसी भी अवस्था में उसके प्रयोग से कोई भीषण हानि नहीं हो सकती।' किन्तु उसे यह स्मरण न हो सका कि वह घोंटना शब्द का अर्थ कर रहा था न कि 'गला घोंटना' लोकोक्ति का। यदि हम 'गला फाड़ने' और गला घोंटने के अर्थों की तुलना करें तो यह समझ में आ सकेगा कि 'गला फाड़ना' के स्थान पर 'गला घोंटना' का प्रयोग करना कितनी बड़ी भूल है।

संयोगसे उस लेख के लेखक महोदय भी छात्राध्यापकों में ही थे। उन्होंने उठ कर कहा–'आपने एक दिन बताया था कि "गला फाड़कर चिल्ला रहे थे" वाक्य त्रुटि पूर्ण है क्योंकि 'गला फाड़ना' लोकोक्ति

में चिल्लाने का भाव उपस्थित है। इसलिए मैंने 'गला फाड़ कर चिल्लाने' के स्थान पर 'गला घोंटकर चिल्लाना' अधिक उपयुक्त समझा।

उनकी बात एक सीमा तक ठीक अवश्य थी क्यों कि 'गला फाड़ने में सचमुच चिल्लाने का भाव उपस्थित है। किन्तु इसका यह तात्पर्य तो नहीं था कि 'गला फाड़कर चिल्लाना' त्रुटि पूर्ण है इसलिए 'गला घोंटकर चिल्लाना' ठीक है। सारांश यह कि इस प्रकार यदि लोकोक्तियों में प्रयुक्त शब्दों के साथ हम खिलवाड़ करें और जब जिसे चाहे जिधर हटा बढ़ा दिया करें तो अर्थ का अनर्थ ही होगा।

उच्च श्रेणी के एक छात्र ने परीक्षा की उत्तर-पुस्तिका में लिखा—'ईश्वर चन्द्र (विद्या सागर) ने आगे के अध्ययन के लिए कुछ भी कर न रक्खा। एक दिन यह वाक्य मैंने छात्राध्यापकों के सामने उपस्थित किया। बहुत से लोग लेखक का ठीक भाव न भाँप सके। जब मैंने उसे इस प्रकार लिख दिया—'मैं परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के हेतु कुछ भी उठा न रक्खूंगा' तो प्रायः लोग समझ गये और इसी के आधार पर उक्त वाक्य का ठीक अर्थ लगाने का प्रयास करने में उन्हें यह भी स्पष्ट हो गया कि वहां 'कर' शब्द के अनावश्यक रूप से घुस जाने से अर्थ समझने में कितनी कठिनाई उत्पन्न हो गई थी।

इसी प्रकार मेरे सम्बन्धी—पुलिस के एक उच्च अधिकारी—ने एक कुख्यात डाकू को पकड़ने के पश्चात् मुझे पत्र में लिखा—'परसों संध्या समय मैंने 'शोभा' नाम के प्रसिद्ध डाकू को पकड़ा और १०००) का सरकारी पुरस्कार प्राप्त किया। वह डाकू भी जान गया कि कैसे भयानक आदमी पर पाला पड़ा था।' इस अंश के अन्तिम वाक्य पर ध्यान दीजिए—"कैसे भयानक आदमी पर पाला पड़ा था" का अर्थ

समझने में जो कठिनाई उपस्थित हो रही है उसका कारण वहां 'पर' शब्द का प्रयोग है, जहाँ 'से' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था।

मैंने उन्हें पत्रोत्तर में लिखा—'मैं यह समझने में असमर्थ रहा कि डाकू को पकड़ने जैसा पुण्य कार्य करने के पश्चात् आप पर पाला (तुषार) क्यों पड़ा। क्या डाकू के पास कोई ऐसी वस्तु थी जिससे'...

तात्पर्य यह कि 'किसी पर पाला पड़ना' और 'किसी से पाला पड़ना' दोनों भिन्न अर्थों की लोकोक्तियां हैं और दोनों में 'पाला' शब्द के भिन्न अर्थ हैं। अतएव यह सोच कर प्रयोग करना चाहिए कि 'हम क्या कहना चाहते हैं—क्या यह लोकोक्ति वह बात ठीक ठीक स्पष्ट कर सकेगी।'

११—<u>विशेषता बताने वाले शब्दों के अनुचित प्रयोग</u>—एक आलोचक ने लिखा था—'उनका स्वर कुछ पतला अवश्य था किन्तु जो कविता उन्होंने कही वह उच्च कोटि की थी'—यहाँ स्वर के लिए 'पतला' विशेषण व्यवहृत हुआ है। किन्तु 'पतला बाँस' हो सकता है, 'पतला रस' हो सकता है, स्वर के साथ 'पतला' शब्द का प्रयोग न करके 'मन्द' का प्रयोग करना चाहिए अन्यथा वाक्य भद्दा हो जायगा।

एक कहानी में लिखा था—'दोनों में घोर मित्रता थी'। मित्रता 'घनिष्ट' होती है, 'घोर' नहीं। 'घोर वर्षा' हो सकती है। एक समाचार पत्र में पढ़ा—'उनकी बुद्धि ने जो कुशाग्र कार्य किया—' कार्य 'कुशाग्र' नहीं होता, 'बुद्धि कुशाग्र' होती है। एक हिन्दी दैनिक के सम्पादकीय लेखमें पढ़ा—'कोरिया का युद्ध लम्बा चलेगा'। 'लम्बे समय तक चलेगा' या 'बहुत दिनों तक चलेगा' तो समझ में आता है किन्तु 'लम्बा चलेगा' भद्दा लगने के साथ ही समझ में भी कठिनाई से ही आता है। चित्र-पट की आलोचना में एक सज्जन ने लिखा 'उस चित्र का जितना भाग मैंने देखा है उतना अति सुन्दर

है।' होना चाहिए—'उस चित्र का जो भाग मैंने देखा वह अति सुन्दर है' क्योंकि 'जितना' परिमाण का बोध कराता है, संकेत का नहीं।

१२—संज्ञाओं के अनुचित प्रयोग—जयन्ती-समारोह के एक लेख में छपा था—'उस महापुरुष ने अनेक कविताओं, कवि-दरबार, पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का निर्माण किया।' यहाँ लेखक यह न सोच सका कि 'कविताओं' और 'कवि दरबार' आदि का निर्माण नहीं किया जाता, इसलिए 'निर्माण किया' क्रिया के साथ इस प्रकार की संज्ञाओं का प्रयोग न करना चाहिए।

एक नगर-पालिका के किसी उत्तरदायी पदाधिकारी ने प्रेस को भेजे जाने वाले पत्र में लिखा—'शुक्रवार को सन्ध्या समय नगर-पालिका की ओर से बाबू जयप्रकाश नारायण को मान-पत्र प्रदान किया जायगा।' सम्भवतः शीघ्रता में उस विद्वान को यह स्मरण न रहा कि मान-पत्र अर्पण किया जाता है प्रदान नहीं।

एक सहयोगी ने पत्र में लिखा—'मुझे शोक है कि मैं आपका वह पत्र न प्राप्त कर सका।' पत्र न प्राप्त करने में खेद हो सकता है, शोक नहीं। इसी प्रकार एक समाचार-पत्र में छपा था—'बड़े शोक का विषय है कि हमारी इच्छा के विपरीत हमारे ऊपर यह निर्वाचन-विधि लाद दी गई।' यह खेद का विषय था शोक का नहीं।

एक अध्यापक ने एक बार लिखा—'मुझे खेद है कि इस दुर्दिन में आप के पिता का स्वर्गवास हो गया।' जहाँ शोक होना चाहिए था वहाँ उन्हें खेद ही होकर रह गया। तात्पर्य यह कि अति प्रचलित संज्ञा शब्दों का प्रयोग भी भावों की गम्भीरता का ध्यान रख कर नहीं किया जाता।

एक बारहवीं कक्षा के छात्र ने विद्यालय में विलम्ब से पहुँचने के कारण एक प्रार्थना-पत्र लिखा—'श्रीमान् जी, आज मैं अपने बीमार भाई के कारण अनार लेने चौक चला गया था...।' यहाँ

'कारण' शब्द तार्किक दृष्टि से ठीक है किन्तु भाषा की दृष्टि से वहाँ 'हेतु' अधिक उपयुक्त होता। कुछ लोग कारण और हेतु में अन्तर नहीं मानते किन्तु अन्तर न मानने से जो व्यतिरेक उत्पन्न हो सकता है, वह यहाँ स्पष्ट हो गया है।

ऊपर भाषा सम्बन्धी जिन भूलों की चर्चा करते हुए रचना में उनसे सावधान रहने की बात कही गई है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम प्रारम्भ में ही साधारणतः रचना-शिक्षण और विशेषतः लिखित रचना-शिक्षण की ओर अग्रसर होते समय बालकों को उक्त भूलों से एक सीमा तक सावधान रखने का प्रयत्न न करेंगे तो प्रारम्भिक काल से ही उनकी रचना दोष-पूर्ण होने लगेगी और आगे चलपर वे उस दोष-पूर्ण भाषा के इतने आदी हो जायेंगे कि अशुद्ध को ही शुद्ध और विकृति को ही सुकृति समझने लगेंगे। उनकी विकृत रचनाओं से सारा साहित्य ही दोषपूर्ण हो जायगा।

कुछ लोग भ्रमवश समझ बैठे हैं कि जब अध्यापक, सम्पादक और बड़े बड़े लेखक तथा विद्वान भी अपनी रचना को इन भूलों से नहीं बचा पाते तो बेचारे विद्यार्थी की क्या हस्ती है जो इन भूलों से अपने को बचाये। इसलिए उनकी दृष्टि में रचना सम्बन्धी उक्त भूलों से सावधान होने का समय बहुत पीछे (प्रौढ़ होने पर) आता है, पहिले वे बालक की रचना को किसी भी रूप में प्रोत्साहित करते रहना ही यथेष्ट समझते हैं। किन्तु ऐसे महानुभाव यह भूल जाते हैं कि प्रौढ़ व्यक्तियों (अध्यापक, सम्पादक तथा लेखक आदि) की रचनाओं में भी उक्त भूलें होने का यही कारण है कि बचपन में इन त्रुटियों से सावधान होकर रचना करने का प्रोत्साहन उन्हें नहीं दिया गया, जिसके फल स्वरूप प्रौढ़ावस्था तक पहुँचते पहुँचते वे इन त्रुटियों में इतने अभ्यस्त हो गये कि अब वे उन्हें स्वाभाविक और शुद्ध प्रतीत होती हैं। अचानक अफीम मुँह में पड़ जाने से कोई उसे

कुस्वाद समझ कर थूक दे सकता है किन्तु बचपन से ही नित्य प्रति थोड़ी थोड़ी बिना रोक-टोक खाते रहने वाले मुख में तो उसके बुरे स्वाद का अनुभव ही न होगा तब वह थूकने की इच्छा क्यों करेगा। ठीक यही स्थिति उन प्रौढ़ व्यक्तियों की हो जाती है। उनके लिए अखाद्य खाद्य बन जाता है और त्याज्य ही ग्राह्य।

तात्पर्य यह कि यदि हम चाहते हैं कि प्रौढ़ावस्था में रचना सम्बन्धी उक्त भूलों से हम बचें तो यह आवश्यक है कि हम बचपन से ही अपनी छोटी से छोटी रचनाओं को भी यथासम्भव इन त्रुटियों से बचाने का ध्यान रक्खें। अवश्य ही बालक को इन त्रुटियों से सावधान रखने का यह तात्पर्य नहीं है कि पग पग पर रोक कर उसकी तीव्र प्रगति में वाधा डाली जाय।

अध्यापक को इस बात की ओर सतर्क रहना चाहिए कि वह रचना-शिक्षण के उद्देश्यों को ध्यान में रख कर इन त्रुटियों से बालक को उतना ही सावधान करे जितने से उसके रचना-विकास में वाधा न उत्पन्न हो। साथ ही इन त्रुटियों से साव-धान करने का एक ऐसा क्रम निर्धारित कर लेना चाहिए जो बालक की कक्षा-योग्यता के अनुकूल और उसके उत्साह-वर्धन में सहायक हो। बालक के रचना-विकास के अनुकूल ही इन भूलों पर कम या अधिक ध्यान देना उचित है।

प्रारम्भिक रचना-शिक्षण-प्रणालियाँ—प्रारम्भिक कक्षा के बालकों के निमित्त रचना-शिक्षण की निम्न लिखित पद्धतियाँ महत्व पूर्ण हैं:—

१—<u>खेल-प्रणाली</u>—अति प्रारम्भिक अवस्था के बालकों को रचना सिखाने में खेल-प्रणाली ही सब से अधिक उपयोगी है। वर्तमान युग के मनोवैज्ञानिकों ने प्रारम्भिक बालक की शिक्षा के

लिए जिन मनोरंजक साधनों का आविष्कार किया है वे सभी इस प्रणाली के अन्तर्गत हैं क्योंकि सभी शिक्षा-शास्त्री प्रारम्भिक रचना-शिक्षण में बालकों के मनोरंजन को सर्व प्रथम स्थान देते हैं। इस दृष्टि से 'किंडर गार्टन विधि', तथा 'मान्टेशरी विधि' जैसी पाश्चात्य और 'बालोद्यान' तथा 'मोहन पेटी' आदि जैसी देशी विधियाँ सभी इस प्रणाली के अन्तर्गत आ जाती हैं।

खेल की इन विधियों के सहारे बालक पहिले वाक्य बनाना सीखता है—विशेषतः संज्ञा और क्रिया से बनने वाले छोटे से छोटे वाक्यों से प्रारम्भ करके वह क्रमशः आगे बढ़ता है। पुनः उन संज्ञाओं और क्रियाओं के गुणों के ज्ञान से विशेषण और क्रिया विशेषण आदि जोड़ता हुआ कुछ बड़े वाक्यों की रचना करने लगता है। इस प्रकार क्रमिक विकास द्वारा छोटी मोटी कहानियाँ और अति साधारण कोटि की स्वतन्त्र अभिव्यक्तियाँ (अति परिचित पशुओं, पक्षियों-गाय, बैल, घोड़ा, तोता, मैना आदि से सम्बन्धित) भी उसकी भाषा तथा लेखनी की परिधि में आ जाती हैं। इस अवस्था को कुछ और आगे बढ़ाने के लिए निम्नांकित विधियाँ काम में लाई जा सकतीं हैं :—

२—प्रश्नोत्तर प्रणाली—दूसरी अवस्था में जब उसकी रचना वर्णन की ओर झुक चुकी रहती है तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसके अनुभवों तथा मनोरंजन के साधनों और नित्य प्रयोग में आने वाली वस्तुओं आदि से सम्बन्धित कुछ ऐसे प्रश्न उससे पूछे जायं जिनके उत्तर देने में उसके हर्ष और उत्साह की वृद्धि हो और साथ ही उसके प्रारम्भिक अनुभवों को अनेक वाक्यों के रूप में उसके मस्तिष्क तक पुनः पुनः पहुँचने का अवसर प्राप्त हो।

ये प्रश्न उसके शब्द-कोष और उसकी अभिव्यक्ति का निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते रहेंगे, जिससे वह अपनी रचना के लिए

वांछित विचारों को वाक्यों में सीमित करके लिखित रूप दे सकने में समर्थ होगा।

प्रारम्भ में कुछ समय तक यदि अध्यापक चाहे तो आवश्यकतानुकूल बालकों द्वारा प्राप्त उत्तरों के व्यवस्थित और संशोधित रूपों को श्याम पट पर क्रम से लिख दे, जिससे बालक अपने उत्तरों के ठोस रूप का बार बार साक्षात्कार करने की सुविधा प्राप्त कर सकें। किन्तु अध्यापक को श्यामपट पर लिखी अधिकांश या सभी बातें तत्सम्बन्धी प्रश्नों के समाप्त हो जाने के शीघ्र पश्चात ही मिटा देनी चाहिए अन्यथा बालकों में नकल करने की कुटेव पड़ जा सकती है।

कुछ और आगे चलकर उनके उत्तरों को श्यामपट पर लिखने का कार्य स्थगित कर देना होगा अन्यथा बालक अपने उत्तरों के ठोस रूप को श्याम पट पर या अन्यत्र कहीं देखकर ही लिखने के आदी हो जायेंगे और चिन्तन-शक्ति की सहायता नगण्य हो जायगी, जिससे उनकी रचना के उचित विकास में वाधा उत्पन्न होगी।

इस अवस्था में उनसे किये जाने वाले प्रश्न—उनके विभिन्न विषयों से सम्बन्धित चित्रों, पास पड़ोस के दृश्यों, पाठशाला की बाटिका के पत्रों, पुष्पों, फलों, सुपरिचित जीव-जन्तुओं, सहपाठियों और मित्रों आदि के गुणों के वर्णन तथा साधारण कोटि की वर्णन-प्रधान कहानियों आदि तक ही सीमित रहेंगे।

प्रश्नोत्तर-प्रणाली के प्रश्नों में उत्तम प्रश्नों के सभी गुणों की उपस्थिति अनिवार्य है क्योंकि ये प्रश्न १—प्रारम्भिक कक्षाओं के बालकों के लिये होंगे। २—ये प्रश्न उनके प्रारम्भिक रचना-विकास से सम्बन्धित होंगे, जो अन्य सभी विषयों की विचारात्मक शिक्षा का पूर्व रूप है। (अच्छे प्रश्नों के गुणों के सम्बन्ध में मेरी पुस्तक 'शिक्षा-सिद्धान्त' में प्रश्नों का अध्याय देखिए)।

३—उद्‌बोधन-प्रणाली—जब बालक वर्णनात्मक रचनाओं में

एक सीमा तक अभ्यस्त हो जाता है तो उसकी कल्पनाओं को जाग्रत करने का प्रयत्न किया जाता है—इसी को हम उद्बोधन प्रणाली कहते हैं। उद्बोधन का तात्पर्य चेताने या उत्तेजित करने से है। इस अवस्था की रचना-शिक्षण-प्रणाली का यह नाम रखने का कारण यह है कि इसमें हम बालक की कल्पना-शक्ति को जाग्रत या उत्तेजित करने के लिए ऐसी परिस्थितियाँ, ऐसे विषय और इस प्रकार की बातें उसके सामने उपस्थित करते हैं, जिनसे वह अपने विगत तथा वर्त्तमान अनुभवों के आधार पर ऐसी सम्भाव्य बातों को एकत्रित कर सके जो उसके ठोस ज्ञान को अधिक शक्तीकृत कर सकें और उसके विचार-क्षेत्र को विस्तृत करके उसके छिपे हुए भावों को रचना का रूप धारण करने का अवसर दें।

माध्यमिक रचना-शिक्षण-प्रणालियाँ—उक्त प्रणालियों द्वारा जब विद्यार्थी प्रारम्भिक रचना के क्षेत्र में येथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेता है और उसकी गति क्रमशः विकासोन्मुख होती चलती है तो उसे अधिक तीव्र गति से आगे बढ़ाने तथा उसके अनुभव, पूर्वार्जित ज्ञान और कल्पना-शक्ति को रचना के कार्य में अधिक सुचारु रूप से प्रयोग करने का अवसर दिया जाता है, जिससे वह यथा सम्भव कम परमुखापेक्षी और अधिकाधिक स्वतंत्र होकर अपने मस्तिष्क और लेखनी का सम्बन्ध स्थापित कर सके। इस स्तर के लिए निम्नांकित विधियों से सहायता ली जा सकती है :—

१—सूत्र-प्रणाली—प्राचीन काल की अनेक रचनाओं में हम देखते हैं कि वेदों और संहिताओं आदि के छोटे छोटे सूत्रों के रूप में बड़ी बड़ी दार्शनिक विवेचनाएँ तथा गूढ़ ज्ञान की बातें संग्रहीत हैं, विस्तृत व्याख्या द्वारा जिनकी व्यापकता पर पूर्ण प्रकाश डालने के लिए बड़ी बड़ी रचनाओं के अध्याय के

अध्याय रंगे पड़े हैं। इससे भाषा-शिक्षा-शास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि किसी विस्तृत ज्ञान का कोई बड़ा से बड़ा अंश भी सूत्र रूप में केन्द्रीभूत करके हम विद्यार्थी के सामने उपस्थित करें और उससे उन सूत्रों के सहारे अपनी रचना का विकास करनेके लिए कहें तो वह उन कतिपय सूत्रों को व्यवस्थित करके उनकी व्याख्या के रूप में एक पूरी रचना उपस्थित कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन सूत्रों को व्यवस्थित रूपमें विद्यार्थी के समक्ष उपस्थित करने में अध्यापक को भी बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। किन्तु इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि सूत्रों के चतुर्दिक अपने विचारों को क्रमवद्ध करने का यह अभ्यास विद्यार्थी की रचना-शक्ति को उन्नत करने में बड़ी सहायता पहुंचाता है।

यह याद रखने की बात है कि सूत्रों का उपयोग विद्यार्थी के एक निश्चित रचना-स्तर के नीचे नहीं किया जा सकता क्योंकि अपने भावों को उचित रूप से व्यक्त कर सकने के साथ ही उन सूत्रों में संचित विषय को परिवर्धित करने की शक्ति उसमें अवश्य होनी चाहिए। यह शक्ति प्रारम्भिक रचना-काल में उसके पास नहीं होती। इसीलिए माध्यमिक और कुछ उच्च कक्षाओं में ही इस विधि का प्रयोग करना उचित है।

विषय के आदि, मध्य और अन्त की स्थितियों का ध्यान रख कर ही सूत्रों को क्रमवद्ध करना चाहिए और यह स्मरण रखना चाहिए कि कल्पना-शक्तिको तीव्रवर करने वाली कुछ बातों के अतिरिक्त एक भी सूत्र विषय के उस क्षेत्र से सम्बन्धित न हो जो विद्यार्थी की पहुँच से पूर्णतः बाहर हो।

२—प्रबोधन-प्रणाली—माध्यमिक स्तर तथा कुछ आगे के लिए दूसरी उपयोगी विधि 'प्रबोधन विधि' के नाम से प्रचलित है। इसका प्रयोग विशेषतः उन विषयों के निमित्त होता है जिनमें

विद्यार्थी केवल अपने पूर्व-ज्ञान के सहारे वांछित सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। विषयसे सम्बन्धित प्रायः सभी प्रधान बातों को अध्यापक उसे समझाता है। तत्पश्चात अपनी कल्पना और भावुकता को उसमें जोड़कर विद्यार्थी स्वयं रचना-कार्य में लग जाता है। इस विधिसे अधिक लाभ की आशा नहीं की जा सकती और साथ ही विद्यार्थी की आत्म-निर्भरता पर भी इसका बहुत अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

उच्च रचना-शिक्षण-प्रणालियाँ—कुछ और आगे बढ़ने पर (ऊँची कक्षाओं में चल कर) ऐसी विधियाँ काम में लाई जाती हैं जिनसे विद्यार्थी को अधिक से अधिक अपने ऊपर निर्भर रह कर रचना करने का अभ्यास हो और इस कार्य के निमित्त वह दूसरों की कृतियों तथा विषय से सम्बन्धित अनेक अन्य सामग्रियों का उचित उपयोग कर सके। इनमें निम्नलिखित विधियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं:—

१—मन्त्रणा-प्रणाली—इस विधि का यह नाम इसलिए रक्खा गया है कि विषय को विद्यार्थी के समक्ष उपस्थित करने के पश्चात् अध्यापक अप्रत्यक्ष रूप से पथ-प्रदर्शन करता है और यह मन्त्रणा देता है कि किस प्रकार के साहित्य (ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं आदि) का अनुशीलन करने से उसे तद्विषयक ज्ञान प्राप्त हो सकता है तथा रचना के निमित्त सामग्री एकत्रित की जा सकती है। भिन्न-भिन्न विद्यार्थी अपनी सतर्कता तथा बौद्धिक विकास के अनुकूल ही रचना सम्बन्धी इन सामग्रियों से उपयोगी बातें संग्रहीत कर सकेंगे। किन्तु जिस प्रकार सभी मधु-मक्खियाँ अपनी अपनी शक्ति के अनुसार फूलों से रस-संचय करती हैं, उनमें एक भी नितान्त असफल नहीं होती, उसी प्रकार इस प्रयत्न में सभी विद्यार्थी कुछ न कुछ सफलता अवश्य प्राप्त करते हैं।

एक ही विषय पर भिन्न भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले अनेक विद्वानों के विचारों से विद्यार्थी का साक्षात्कार होता है और उसमें अपनी स्वतंत्र दृष्टिसे सर्वोत्तम का चुनाव कर सकने की शक्ति बढ़ती है। विषय के पक्ष और विपक्ष दोनों में वे रचना करने की क्षमता प्राप्त करते हैं। भिन्न भिन्न लेखकों के कारण सभी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं आदि की भाषा तथा शैली एक-सी न होकर अनेक प्रकार की होती हैं, जिससे रुचि के अनुकूल विद्यार्थी की भाषा तथा शैली का पथ भी प्रशस्त होता है।

२—<u>स्वाध्याय-प्रणाली</u>—उक्त विधि का एक दूसरा रूप स्वाध्याय-प्रणाली अथवा 'विचार-प्रणाली' के नामसे प्रचचित है। 'मन्त्रणा-प्रणाली' से यह केवल इस बात में भिन्न है कि जहाँ उसमें विद्यार्थी को अध्यापक का पथ-प्रदर्शन (विभिन्न पुस्तकों, पत्र, पत्रिकाओं आदिके नामों के रूप में) प्राप्त होता रहता है, वहाँ इस विधि में यह कार्य उसे अपने विवेक से ही करना पड़ता है। यहाँ उसे केवल रचना का विषय बता दिया जाता है—उससे सम्बन्धित साहित्य ढूँढ़कर वह स्वयं अध्ययन करता और अपनी रचना के लिए सामग्री एकत्रित करता है।

यह विधि कुछ कठिन है, किन्तु बहुत उपयोगी है क्योंकि इसमें विद्यार्थी पूर्ण स्वतंत्र होकर काय करता हैं और अपने अध्ययन की दिशा स्वयं निर्धारित करता है। इसे अनुसन्धान—विधि कहना अनुचित न होगा। क्रम की दृष्टि से इसका वर्णन अन्त में होना चाहिये था क्योंकि प्रायः उच्चतम कक्षाओं के लिए ही यह अधिक उपयोगी समझी जाती है। किन्तु इस स्थान पर इसके वर्णन का कारण यह है कि यह ऊपर लिखित 'मन्त्रणा-प्रणाली' से केवल एक कदम आगे है। सार रूपमें वही विधि है।

३—अनुकरण-प्रणाली—इस विधिके अनुसार विद्यार्थी के सामने एक उत्तम रचना उपस्थित की जाती है जिसकी भाषा और शैली अनुकरणीय हो। विद्यार्थी उसे भली प्रकार पढ़कर उस शैली का अनुकरण करता हुआ आगे बढ़ता है। ऐसा करते समय अध्यापक उसे उपस्थित रचना से भिन्न विषय में अपनी रचना करने का आदेश देता है। इस विधि का प्रयोग विशेष रूपसे विद्यार्थी की रचना में भाषा तथा शैली के वांछित विकासके निमित्ति किया जाता है।

४—तर्क-प्रणाली—यह विधि ऐसे विषयों के लिए अधिक उपयोगी है, जिनके सम्बन्ध में समाजके भिन्न भिन्न विचारक एक मत न हों (जैसे सहशिक्षा)। विषय के पक्ष-विपक्ष में दो दल बना दिये जाते हैं, जो क्रमशः एक दूसरे के विचारों का खण्डन मण्डन करते हैं। इस विधि में विद्यार्थी अपने पूर्वार्जित ज्ञान को क्रम-बद्ध, सुगठित तथा अधिक से अधिक स्पष्ट करके प्रतिवादी को पराजित करने का प्रयास करता है और वाद-विवाद समाप्त हो जाने पर उसे रचना का रूप देता है। इस प्रकार उसे विचारों को पूर्ण रूप से सुलझाने तथा दूसरों की शंकाओं का ध्यान रखकर रचना करने की क्षमता प्राप्त होती है।

उक्त प्रचलित विधियों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसी विधियाँ हो सकती हैं, जो अध्यापक के स्वतंत्र अनुभव के फल स्वरुप अपनी स्वतंत्र उपयोगिता रखती हों। किन्तु रचना-शिक्षण से सम्बन्धित सभी विधियों में बालक की योग्यता, विषय की उपयोगिता तथा सहायक सामग्रियों की उपलब्धि आदि अनेक बातों की ओर उचित ध्यान रखना अति आवश्यक है।

ऊपर प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को ध्यान में रख-कर रचना-शिक्षण-विधियों के जिस क्रम का निरूपण

किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि जो विधि एक के लिए उचित है, वह दूसरे के लिए अनुचित और जो एक के लिए सरल है वह दूसरे के लिए कठिन हो सकती है। इन विधियों की अपनी सीमाएँ हैं। उनके भीतर ही वे लाभप्रद सिद्ध हो सकती हैं अन्यथा नहीं।

वस्तुतः अत्यधिक सतर्क रह कर भी हम विद्यार्थी को पाठशाला की उच्चतम कक्षाओं तक विभिन्न प्रकार की रचनाओं का साधारण ज्ञान ही करा सकते हैं क्योंकि पाठ्य-विषयों के अनेक रूपों और प्रत्येक विषय की शाखा प्रशाखाओं में उसे इतना समय लगाना पड़ता है कि रचना-शिक्षण का कार्य केवल आंशिक रूप में ही हो सकता है। भावोत्पादक तथा विचारोत्पादक सुन्दर रचनाओं का अभ्यास और उनके निमित्त आवश्यक स्वाध्याय तथा अनुभव-वृद्धि का अवसर विद्यालयों के वातावरण से मुक्त होने पर ही उसे सुलभ होता है। तद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि रचना सम्बन्धी हमारी भावी उन्नति का सारा श्रेय विद्यालय में पढ़ते समय हमारे अध्यापकों द्वारा उक्त प्रकार के क्रमागत पथ-प्रदर्शन को ही है।

सुन्दर रचना—रचना को सर्वाङ्ग सुन्दर तथा रचना-कार्य में बालक को सरलता पूर्वक कुशल बनाने के निमित्त कतिपय निम्न लिखित मौलिक सिद्धान्तों का ध्यान रख कर चलना अधिक उपयोगी होगा:—

१—विद्यार्थी की रुचि।

२—लघुतम घटनाओं को भी उचित महत्व देने की टेव।

३—मधु-मक्षिका की तरह ज्ञान-संचय-शीलता।

४—शब्दों, वाक्यों और लोकोक्तियों को व्यवस्थित और प्रभावशाली बनाने का अभ्यास।

५—कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव।

६—स्वाभाविकता।

७—सौष्ठवपूर्ण आलोचन-प्रत्यालोचन का अभ्यास।

८—दूसरों के विचारों को प्रकारान्तर से व्यक्त कर सकने का अभ्यास।

९—देश, काल और पाठक के अनुकूल होने का ध्यान।

१०—भाषा की प्रकृति के अनुकूल होने का ध्यान।

११—सरल भूमिका से कठिन विवेचन की ओर।

१२—व्याकरण तथा वाक्य-विन्यास सम्बन्धी भूलों का ध्यान।

१३—एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान।

१४—सफल वार्तालाप तथा भाषणादि सम्बन्धी गुणों का ध्यान।

१५—पीछे कही गई रचना सम्बन्धी भूलों से सतर्कता।

१—विद्यार्थी की रुचि—रचना-शिक्षण में सर्वप्रथम विद्यार्थी की रुचि का ध्यान रखना आवश्यक है। जिस विषय की ओर उसका सब से अधिक झुकाव हो उसी से सम्बन्धित शब्दों और वाक्यों से रचना-कार्य प्रारम्भ कराया जाय तो उसे रुचिपूर्वक आगे बढ़ने के लिए उत्साहित कर सकना सरलतर होगा। इसके अतिरिक्त भविष्य में रचना सम्बन्धी महान सफलता तभी प्राप्त की जा सकती है जब रचना का विषय पूर्ण रूप से हमारी रुचि के अनुकूल हो। बालक की रुचि का ध्यान रखकर ही प्रारम्भिक रचना का विषय चुनना चाहिए।

२—लघुतम घटनाओं को भी उचित महत्व देने की टेव—साधारण व्यक्ति छोटी मोटी घटनाओं को नगण्य महत्व देता है। किन्तु सत्य यह है कि जो व्यक्ति छोटी बातों को उचित महत्व नहीं देता वह बड़ी बातों को भी यथोचित महत्व नहीं दे सकता। असाधारण व्यक्ति वह है जो छोटी भूलों, नगण्य दुष्कृत्यों और अति साधारण बातों को भी उचित प्रकार तौलता तथा उनके लाभ-हानि और फल-कुफल का आवश्यक ध्यान रखता है। हम सभी लोग वृद्धों

को खाँसते कराहते, गाय भैंस जैसे उपयोगी पशुओं की हत्या होते तथा नित्य लोगों को मरते देखते हैं किन्तु हममें कितने ऐसे हैं जो इन बातों को सिद्धार्थ के नेत्रों से देखते और गौतम बुद्ध के हृदय से उसके कारणों का पता चलाने या उन समस्याओं को सुलझाने के प्रयास में लग जाने की बात सोचते हैं? महान रचनाओं को मूर्तिमान करने वाले बीते युग के महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि साधारण घटनाओं का भी उनकी दृष्टि में कितना महत्व था। वे छोटी से छोटी घटना से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। उनके रचना सम्बन्धी कार्यों में इन नगण्य कही जानेवाली घटनाओं से अगणित परिवर्त्तन होते देखे गये हैं। हमारी लेखनी पर हृदय की और हृदय पर नित्य प्रति घटने वाली घटनाओं की प्रभाव-शाली और कभी कभी क्रान्तिकारी छाप पड़ जाती है।

हाथी को अपने वितण्ड से धल उड़ाते अगणित व्यक्तियों ने देखा होगा किन्तु उसे रहीम की तरह महत्व किसने दिया—

धूल धरत निज शीश पर,
कहु 'रहीम' केहि काज।
जाते मुनि-पत्नी तरी,
सो ढूँढ़त गजराज॥

लोहार की धौंकनी सैकड़ों बार हमारे नेत्रों के सामने आ चुकी है, किन्तु उससे शिक्षा किसने प्राप्त की—

रहिमन आह गरीब की,
कभी न निष्फल जाय।
मुए बैल के चाम से,
लोह भस्म होइ जाय॥

हमें बालक में नित्य की घटनाओं को उचित महत्व देने की टेव डालनी चाहिए।

३—मधु-मक्षिका की तरह ज्ञान-संचय-शीलता—जिस प्रकार मधु के छत्ते में एकत्रित अमृत का संचय मक्खियाँ एक ही स्थान से एक ही दिन में नहीं करतीं, उसी प्रकार सुन्दर रचना थोड़े समय और अल्प ज्ञान से नहीं की जा सकती। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने चतुर्दिक प्रत्येक वस्तु के विषय में उचित ज्ञान प्राप्त करें और अनेकानेक ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं, कथा-कहानियों आदि से सार सार को चुन लें और थोथे को छोड़ दें। हमारी रचना सर्व गुण सम्पन्न तभी हो सकती है जब हमारा संचित ज्ञान ही उसका आधार हो। इधर उधर से नोच खसोट कर की हुई रचनाएँ अल्प महत्व की होती हैं। उनमें स्थायित्व तभी आ सकता है जब हम उस ज्ञान को, चाहे वह कहीं से प्राप्त किया गया हो, अपना बनाकर प्रयोग में लाएं। अपना बनाने के लिए मनन की आवश्यकता है। मनन ही इस संचय का सदुपयोग है और उसी से सुन्दर रचना का प्रादुर्भाव होता है। यदि प्रारम्भ से ही बालक ज्ञान-संचय में निपुण और मननशील न हुआ तो उसकी रचना सुन्दर न होगी।

४—शब्दों, वाक्यों और लोकोक्तियों आदि के समुचित प्रयोग का अभ्यास—जिस रचना में शब्दों के अनियमित प्रयोग होते हैं वाक्य विशृंखलित रहते हैं, और लोकोक्तियों को पढ़ते ही प्रभाव नहीं पड़ता वह रचना सुन्दर विचारों से पूर्ण होने पर भी आकर्षण-रहित होती है। उसे पढ़ते समय पाठक को पग पग पर झुँझलाहट होती है। इनके समुचित प्रयोग का अभ्यास करते रहना रचना का प्रथम सोपान है। (पीछे के पृष्ठों में उदाहरण देखिए)

५—कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव—प्रायः लोग

घरेलू पत्रों में लिखा करते हैं 'लिखा कम समझिए अधिक।' यद्यपि यह लोकोक्ति का विकृत प्रयोग है किन्तु मेरा तात्पर्य इसमें उपस्थित भाव से है। कम लिखने पर भी अधिक समझने का अर्थ यह है कि 'पत्र थोड़े शब्दों में ही समाप्त कर रहा हूँ पर इसमें बहुत सी बातों की ओर आवश्यक संकेत कर दिया है, सबको पूर्ण रूप से समझ लो।' रचना के सम्बन्ध में यह लोकोक्ति बड़ी उपयोगी है। व्यर्थ के शब्दाडम्बर से एक वाक्य में कही जाने वाली बात पाँच वाक्यों में फैला कर रचना को वृहत् बनाने से उसका महत्व बढ़ने के स्थान पर घट जाता है यथा—'मुझे अपने हृदय में बड़ी आशा हो रही है कि वे अपने इस सुपरिचित अति प्राचीन सेवक की जीर्ण कुटिया में अपने परिवार सहित चरण कमलों से इस शुभावसर पर अवश्यमेव पधारने का महान कष्ट करेंगे।'

उक्त वाक्य के स्थान पर लेखक इतने से ही काम चला सकता था—'आशा है वे इस अवसर पर सेवक की कुटिया में सपरिवार पधारेंगे।'

प्रथम अध्याय के उदाहरणों में तुलसीदास ने एक पात्र के मुख से राम लक्ष्मण के सौन्दर्य का विशद वर्णन न करा कर अति संक्षेप में कहवा दिया—

श्याम गौर किमि कहौं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

इन थोड़े से शब्दों में जो बात कह दी गई वह दो चार पृष्ठों के लम्बे वर्णन में भी सम्भव न हो सकती। राधा ने अपनी उन आँखों की उपमा के विषय में, जिन पर बारह मास वर्षा ऋतु छाई रहती थी, केवल इतना ही कहा—

'निशि दिन बरसत नयन हमारे उपना सकल बही।'

किन्तु इस एक वाक्य में पृष्ठों की बात भर गई।

६—स्वाभाविकता—रचना की भाषा का स्वाभाविक होना अति आवश्यक है। प्रायः देखा जाता है कि लोग लम्बे शब्दों और बड़े बड़े समासों के चक्कर में पड़ कर अपनी भाषा में इतनी अस्वाभाविकता भर देते हैं कि वह नीरस हो जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि यदि किसी लेखक या विद्वान के विचार हमें अति प्रिय हैं तो उन विचारों को स्पष्ट करते समय हम अपने स्वतन्त्र ढंग से न सोचकर उन्हीं के शब्दों में सोचने का प्रयत्न करने लगें और अपनी भाषा की प्रकृति ही नष्ट कर दें। यह दूसरी बात है कि हम किसी के विचारों का उद्धरण देते समय उसी के शब्दों को रक्खें, चाहे वे जैसे भी हों, क्योंकि उन शब्दों में उस लेखक का भला या बुरा व्यक्तित्व छिपा रहता है। किन्तु जब हम अपने विचार का अवलम्ब ही दूसरे की भाषा को बना लेंगे तो अपनी रचना पर भी दूसरे का रंग चढ़ जायगा।

अवश्य ही स्वाभाविकता का अर्थ गँवारूपन नहीं है। काशी के 'सर सुन्दरलाल अस्पताल' में एक सज्जन ने कविराज कुँवर प्रताप जी से कहा 'चाची के कँखिया में अठवारन से एक ठे पाका भइल बा...।' कुछ समय पश्चात् बातचीत में मुझे विदित हुआ कि वे सज्जन काशी विश्वविद्यालय के आर्ट कालेज के द्वितीय वर्ष के छात्र थे। सम्भव है वे घर में ऐसी ही भाषा बोलने के आदी हों। किन्तु सभ्य समाज में यह स्वाभाविकता ताक पर रख देनी चाहिए। यदि इस बात पर हम यथेष्ट ध्यान न देंगे तो प्रथमतः हमारी मौखिक और तत्पश्चात् लिखित रचनाएँ पाठक की घृणा को ही आमंत्रित करने में अधिक सफल होंगी। प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' में लिखा है:—

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की,

वाह्यप्रकृति बनी 'चकाचक'।चित्र थी।
सुखद सौरभ की सरल स्मृति से वही,
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी॥

यह 'चकाचक' शब्द काशी के गुरू लोग बोलते हैं—दूसरे लोग इसे क्या समझेंगे। 'गुप्तजी' के शब्दों का 'झकझकाना' भी ऐसा ही है।

विद्यार्थी द्वारा स्वाभाविक रूप से की हुई प्रारम्भिक रचना में भी इस प्रकार के दोष आ सकते हैं। किन्तु अध्यापक का कर्तव्य है कि वह उनका सुधार शनैः शनैः इस प्रकार करे कि विद्यार्थी अपनी त्रुटियों से एकाएक घबड़ा कर रचना से मुँह न मोड़ ले। यदि प्रारम्भ में ही गँवारूपन के दोष से मुक्त करके उन्हें अपनी भाषा को उचित स्वाभाविकता के साँचे में ढालने का अवसर दिया जायगा तो मौखिक और लिखित दोनों ही रचनाओं की कृत्रिमता दूर होकर उनकी कक्षा से सहस्रों 'नरेन्द्र देव' और लाखों 'महावीर प्रसाद द्विवेदी' प्रति वर्ष निकलेंगे।

७—सौष्ठवपूर्ण आलोचन और प्रत्यालोचन का अभ्यास—आलोचना का रचना से दोहरा सम्बन्ध है। एक तो इस रूप में कि हम दूसरे की रचनाओं या विचारों आदि की उचित छान बीन करके आलोचनात्मक दृष्टि से अपनी रचना करें और दूसरी यह कि हम अपनी ही किसी प्रकार की रचना को प्रायः सम्पूर्ण हो जाने के पश्चात् एक चित्रकार अथवा मूर्त्तिकार की पैनी दृष्टि से देखें और दूसरे की रचनाओं की तरह उसकी भी काट छाँट करके उसे सर्वजनसुखाय तथा सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का यत्न करें।

रचना करते समय हमारे मस्तिष्क में अनेक ऐसी बातें आती रहती हैं जिन्हें उस समय हम लिख जाते हैं किन्तु यदि एक दो दिन पश्चात् उनको पढ़ें तो उनमें कुछ ऐसी त्रुटियाँ मिलती हैं जो हमें

ही खटकने लगती हैं, फिर दूसरों को वे कैसे प्रिय लगेंगी। इसलिए यह आवश्यक है कि रचना करने के पश्चात् (कुछ समय बिताकर) हम स्वयं उसकी आलोचना करके उसे परिष्कृत बनायें।

कभी कभी हमारी आलोचना भी भ्रमपूर्ण हो सकती है। इसलिए तुरन्त सुधार न करके उसे प्रत्यालोचन की कसौटी पर कस कर ही यथावश्यक परिवर्त्तन या परिवर्धन करें।

ठीक यही आलोचन और प्रत्यालोचन का क्रम हमें अपनी उन रचनाओं में भी रखना चाहिए जो किसी दूसरे की रचना या विचारों की आलोचना स्वरूप की जाती हैं। हाँ, यहाँ एक और बात का ध्यान रखना अधिक आवश्यक होगा। हम अपनी रचनाओं की आलोचना जिस नरमी और सहृदयता से करते हैं, प्रायः दूसरे की रचनाओं की वैसी नहीं। उचित तो यह है कि उनके साथ हम और भी अधिक सहृदयता से काम लें। कटु शब्दों में की गई आलोचना कभी भी सर्व-प्रिय नहीं हो सकती। बात चाहे कितनी भी कटु हो किन्तु उसे कहने या लिखने के ढंग में भी यदि वही कटुता आ गई तो रचना महत्वहीन हो जाती है।

गुरु वृहस्पति की पत्नी से शिष्य चन्द्रमा के कुसम्बन्ध की कथा अति प्रचलित है। चन्द्रमा अपने ऊपर लगाये गये आक्षेप की कितनी सौम्य आलोचना करता है और उसके प्रत्यालोचन में वृहस्पति कितना सौम्य उत्तर देते हैं—यह श्री भगवती चरण वर्मा की रचना में देखिए—

चन्द्रमा—'गुरुवर क्या है पुण्य और क्या पाप है ?
'असफलता क्या जीवन में अभिशाप है ?'
वृहस्पति—'पाप ! पाप क्या है—मनुष्य की भूल है,
है समाज के नियमों की अवहेलना।

एक परिधि है आकांक्षा की, चाह की,
जिसके भीतर रह कर चलना पुण्य है,
जिसके बाहर गये और बस पाप है।'

आलोचना का कार्य दूध को दूध और पानी को पानी बताना है। इस लिए उसका सुन्दर, सरस और शिष्ट शब्दों में होना अत्यावश्यक है। पहिले अपनी और पीछे दूसरों की आलोचना करनी चाहिए। गुण-दोष की पहिचान और उसकी विवेचना यदि बालक को प्रारम्भ में ही उचित रूप से न बताई गई और उसे सुन्दर सरस और शिष्ट शब्दों में व्यक्त करने की टेव का क्रमिक विकास न हुआ तो उसकी रचना में अनेक ऐसे दोष रह जायँगे जो उसकी भावी रचना सम्बन्धी प्रगति में बाधक होने के साथ ही जीवन के अनेक कार्यों में भी पूर्ण संतुलन न स्थापित होने देंगे और उसकी दशा—

रक्त पिये पय ना पिये लगी पयोधर जोंक—

—की हो जायगी।

८—दूसरों के विचारों को प्रकारान्तर से व्यक्त कर सकने का अभ्यास—पीछे यह कहा जा चुका है कि मधु-मक्षिका की तरह अनेक क्षेत्रों से थोड़ा बहुत ज्ञान संचय करते रहना उत्तम रचना-विकास का आधार है। किन्तु हो सकता है कि हम इस अध्ययन के क्रम में अर्जित ज्ञान की कुछ बातों से अत्यधिक प्रभावित हों और शेष से नहीं। उस अवस्था में उन प्रभावित करने वाली बातों को अपनी रचना में स्थान देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे हमारी भाषा और शैली के स्वतन्त्र साँचे में ढल कर नया रूप प्राप्त कर लें और यथासम्भव हम उनके पूर्व सौन्दर्य और गुणों में अभिवृद्धि करें जिससे वे पाठक के लिए पहिले से अधिक आकर्षक बन जायँ।

निम्न लिखित रचनाओं में एक ही बात प्रकानान्तर से कही गया है, किन्तु उसका सौन्दर्य घटा नहीं है:—

१—दुष्ट न छोड़े दुष्टता,
कैसे हू सुख देत ।
धोये हू सौ बेर के,
काजल होय न सेत ॥

२—नीच निचाई नहिं तजे,
जो पावे सत संग ।
विष वासिक नहिं तजत है,
लिपटे चन्दन-अंग ॥

विचारों की अभिव्यक्ति में अपना स्वतन्त्र पुट देना आवश्यक और उपयोगी है क्यों कि हमारे अधिकांश विचार तो दूसरों के अनुभव पर ही आधारित होते हैं—(सभी बातों को अनुभव द्वारा जानने में दो चार युग लग जायेंगे)। तब उनको उसी प्रकार रख देने में विशेषता क्या होगी, यदि उन पर हमने नया रंग न चढ़ाया और उन्हें नये प्रकाश में न देखा।

६—<u>देश, काल और पाठक के अनुकूल होने का ध्यान</u>—रचना देश काल और पाठक के अनुकूल होनी चाहिए। जो आदर्श इङ्गलैंड, फ्रान्स आदि पाश्चात्य देशों में उत्तम समझे जाते हैं वे भारतवर्ष में भी उसी श्रेणी के हों यह आवश्यक नहीं है और जो आदर्श भारतवर्ष में ही सहस्र वर्ष पहिले उच्च माने जाते थे वे आज भी उसी दृष्टि से देखे जायं, यह आवश्यक नहीं है। ये साधारण बातें हैं, किन्तु हमारी रचना पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि हम उक्त देशों

की तरह भारतवर्ष में भी 'बालडान्स' की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए कोई लेख लिखें या भारत की प्राचीन काल की 'सती-प्रथा' की पुनरावृत्ति के लिए कोई रचना करें तो वह रद्दी की टोकरी में ही स्थान पा सकेगी, अन्यत्र नहीं।

इसी प्रकार बड़े बालकों की रचना छोटे बच्चों के निमित्त हो तो ऐसे शब्द या भाव-विन्यास न हों जिन्हें बच्चों के पिता भी कोष की सहायता से ही समझ सकें। यदि भिन्न भाषा-भाषियों के निमित्त की गई हो तो ऐसी लोकोक्तियों के प्रयोग न हों जो उनके समाज से सर्वथा भिन्न हों और जिन्हें समझने के लिए उनको लेखक या लेखक के बन्धु-बान्धवों का दरवाज़ा खटखटाना पड़े।

१०—भाषा की प्रकृति के अनुकूल होने का ध्यान—हम जो कुछ लिखें वह हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल हो। विचारों के विषय में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वे एक भाषा से दूसरी और दूसरी से तीसरी भाषा में परिवर्त्तित होते रहते हैं। किन्तु उन मौलिक विचारों की भाषा और दूसरी भाषा की प्रकृति में अन्तर हो सकता है। जहाँ तक उनमें मेल हो यह प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु जहाँ अन्तर हो वहाँ हमें सतर्क रहने की आवश्यकता है। इस सतर्कता के अभाव में ही आज हिन्दी में अंग्रेज़ी, उर्दू, मराठी आदि विभिन्न भाषाओं के अनेक प्रयोग उसकी प्रकृति के विपरीत चल पड़े हैं जो न आवश्यक हैं न उचित।

'आपको उनसे क्या काम है?' आगे चलकर (further) उसने जोड़ा (added)।

पहिली बात तो यह है कि प्रश्न के पश्चात् प्रश्न-कर्त्ता का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता। यदि इसे किसी के हठ से स्वीकार भी कर लिया जाय तो 'फर्दर' और 'ऐडेड' को 'आगे चलकर जोड़ा' कहना या

लिखना तो हिन्दी का गला घोंटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साथ ही अर्थ का अनर्थ भी होने की सम्भावना है। भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल होना ही इसका प्रधान कारण है।

इसी प्रकार 'चित्र भारतवर्ष' उर्दू के 'नकशए हिन्दोस्तान' के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा है। इसके स्थान पर 'भारतवर्ष का चित्र' अधिक उपयुक्त होता। इन बातों को कुछ लोग भले ही महत्व न दें किन्तु कभी कभी ऐसे स्थानों पर बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है जहाँ हमारी क्रियाएँ उर्दू की कृपा से विकृत हो जाती हैं—'उसने ऊपर चढ़कर देखा—मनुष्य क्या पक्षी भी पर नहीं मारता है; इधर उधर कुछ फूल बिखर रहे हैं, सामने एक चारपाई बिछ रही है...।'

ऐसा स्पष्ट हो रहा है जैसे मनुष्य भी पक्षी की तरह पर मारता है। 'फूल बिखर रहे हैं' का तात्पर्य यह हो सकता है कि जिसने बिखेरने का कार्य प्रारम्भ किया था उसने अभी समाप्त नहीं किया है। जहाँ कोई है ही नहीं वहाँ बिखेरने का काम कौन कर रहा है? इसके साथ ही सामने एक चारपाई भी बिछ रही है (कोई बिछा रहा है क्योंकि अभी बिछने का कार्य पूरा नहीं हुआ है) आश्चर्य है कि जहाँ कोई न हो वहाँ चारपाई कैसे बिछ रही है।

वस्तुतः 'बिछ रही है' के स्थान पर 'बिछी हुई है' और 'बिखर रहे हैं' के स्थान षर 'बिखरे हुए हैं' होना चाहिए।

तात्पर्य यह कि उनकी 'उम्मेद' से 'नाउम्मेद' हो कर हम 'बराबर' को 'नाबराबर' करने लगे—हमारे छात्र और छात्राध्यापक दोनों धड़ल्ले से 'नाबराबर' का प्रयोग करने लगे हैं।

ये और ऐसी ही अनेक अन्य बातें हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। अतएव हमारे विद्यार्थी को इनसे ममता बढ़ाने का यत्न त्यागना होगा।

१२—सरल भूमिका से कठिन विवेचन की ओर—प्रायः देखा

जाता है कि विचारात्मक, विवेचनात्मक तथा गूढ़ विषयों पर की हुई रचनाओं में प्रारम्भ से ही उनकी गूढ़ता अथवा विचार-क्लिष्टता का आभास मिलने लगता है, जिससे पाठक को रचना की मूल प्रारम्भिक बातें सनझने में ही कठिनाई उपस्थित हो जाती है और वे आगे बढ़ने के स्थान पर उसे वहीं छोड़ देते हैं। उचित यह है कि हमारी रचना का प्रारम्भिक अंश इतना सरल और स्पष्ट हो कि पाठक उत्साह पूर्वक आगे बढ़ सके। आगे चलकर क्रमशः मूल बातों का विवेचन भी ऐसे ढंग से होना चाहिए कि पहिले उसके सबसे अधिक स्पष्ट और निखरे हुए अंश का और तत्पश्चात् उत्तरोत्तर अपरिचित और सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन हो, जिससे पाठक को रचना के पूर्वांश के पाठ—ज्ञान के आधार पर आगे बढ़ने की सुविधा प्राप्त हो सके।

१३—व्याकरण तथा वाक्य बिन्यास सम्बन्धी भूलों का ध्यान—यह निर्विवाद है कि भाषा को अपनी अनुगामिनी बनाकर रखने वाले विद्वान के लिए व्याकरण के कठिन नियमों में बँधकर चलने का ध्यान रखना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसकी भाषा इतनी मँजी हुई होती है कि वे नियम स्वयं ही अनुकूल हो जाते हैं। किन्तु यही बात विद्यार्थी के विषय में भी नहीं कही जा सकती। उच्चतम कक्षाओं के विद्यार्थी सभी नियमों का ज्ञान रखते हुए भी लम्बे अभ्यास के बिना अपनी रचनाओं में शुद्ध भाषा नहीं लिख पाते। तब प्रारम्भिक और माध्यमिक कक्षाओं के बालकों की रचनाओं में यदि व्याकरण सम्बन्धी दोष अधिक हों तो आश्चर्य ही क्या है।

आवश्यकता इस बात की नहीं है कि हम विद्यार्थी को व्याकरण की दुरुहताओं का ज्ञाता बनाने में लग जायँ, वरन ध्यान इस बात का रखना है कि तत्सम्बन्धी प्रचलित सर्वमान्य नियमों का पालन करने के लिए उससे अधिकाधिक प्रयोग करायें जायँ जिससे प्रथमतः उसकी मौखिक रचना और अन्ततः लिखित रचना की भाषा शुद्ध और

परिष्कृत हो सके। (विशेष सावधानी के लिए आगे के पृष्ठों में देखिए)।

वाक्य-विन्यास यद्यपि व्याकरण का ही एक अंग है किन्तु इसकी ओर विशेष रूप से संकेत करने का कारण यह है कि प्रारम्भ में हमारा विद्यार्थी व्याकरण के नियमों से पूर्णतः अपरिचित होने की अवस्था में ही भाषा बोलना अथवा लिखना सीखता है। उस अवस्था में यदि हम यह ध्यान रक्खें कि उसके वाक्य छोटे, स्पष्ट सुसम्बन्धित तथा यथासम्भव संतुलित हों तो भविष्य में व्याकरण के नियमों का ज्ञान कराना अत्यन्त सरल होगा।

१४—सफल वार्तालाप तथा भाषण सम्बन्धी गुणों का ध्यान—यद्यपि इन गुणों का ध्यान मौखिक रचना में ही अधिक आवश्यक होता है तथापि लिखित रचना की गति और श्रेष्ठता उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहती, इसलिए विचारों को शीघ्रता से व्यवस्थित करते रहने और लेखनी को तीव्र गति से अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर देने के लिए इन गुणों का ध्यान रखना आवश्यक है (इन गुणों के सन्बन्ध में चतुर्थ अध्याय देखिए)।

१५—एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान—सुन्दर रचना के लिए एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान बड़ा ही सहायक सिद्ध होता है। प्रारम्भिक कक्षाओं के विद्यार्थियों का प्रायः इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं। माध्यमिक कक्षाओं में भी दूसरी भाषाओं (अंग्रेजी संस्कृत आदि) का उपयोगी ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए यह बात केवल उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के विषय में ही उचित है। एक ही विषय पर भिन्न स्थानों के निवासियों, भिन्न धर्मों के अनुयायियों तथा भिन्न सामाजिक वातावरण में रहने वाले व्यक्तियों के विभिन्न अनुभवों का लाभ उठाकर रचना को अधिक लोक-प्रिय तथा सुन्दर बनाया जा सकता है।

इस प्रकार यदि इस अध्याय के प्रारम्भ में बताई हुई रचना सम्बन्धी सावधानियों तथा सुन्दर रचना के उक्त गुणों को यथेष्ट महत्व दिया जाय तो रचना अवश्य सफल और सुन्दर होगी।

रचना सम्बन्धी अभ्यास का क्रम—रचना के सम्बन्ध में इन सभी बातों की चर्चा करने के पश्चात् इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि हम विद्यार्थियों को रचना सम्बन्धी अभ्यास कराने में उनकी योग्यता (कक्षा) की दृष्टि से क्या क्रम रक्खें। इस विषय में निम्नांकित क्रम से चलना अधिक लाभप्रद होगा:—

क—अनिवार्य शिक्षा-काल (कक्षा १ से ५—उत्तर प्रदेशीय बेसिक स्कूल)—

कक्षा १-२—पाँचवें और छठवें अध्यायों में बताई हुई उचित वाचन तथा लेखन-शिक्षण-विधियों द्वारा कुछ परिचित शब्दों के पढ़ने और लिखने का कुछ अभ्यास कराने के पश्चात्:—

१—प्रश्नों के उत्तर में बन्धु-बान्धओं तथा परिचित वस्तुओं आदि का नाम बताना (मौ० रचना का प्रा०)।

२—अपने बन्धु-बान्धवों तथा मित्रों के नाम लिखने का अभ्यास। (लिखित रचना का आ०)

३—कतिपय सुपरिचित अपने या पड़ोस के पालतू पशुओं, पक्षियों वस्तुओं आदि के नाम लिखने का अभ्यास।

४—श्यामपट पर लिखे हुए ऐसे ही अनेक अन्य नामों की प्रति लिपि करना।

५—उक्त सुहृदों, पशुओं, पक्षियों आदि के विषय में साधारण वार्तालाप (मौलिक मौखिक रचना का प्रारम्भ)।

६—वर्तालाप में आए हुए कुछ वाक्यों को श्याम पट पर लिखकर प्रतिलिपि कराना।

७—पाठ्य पुस्तक से प्रति लिपि कराना।

८—चित्रों से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर।

९—विभिन्न सुपरिचित पशुओं, पक्षियों, वस्तुओं तथा चित्रों आदि से सम्बन्धित प्रश्न करके उत्तर प्राप्त होने पर आवश्यकतानुकूल सुधार करके एक दो बार फिर पूछ कर पुनः उन्हीं प्रश्नो में से एक (और क्रमशः अधिक) श्यामपट पर लिख कर विना सहायता के उसका उत्तर अपनी पटरी या अभ्यास-पुस्तिका में लिखने के लिए प्रोत्साहित करना (मौलिक लिखित रचना का प्रारम्भ)।

१०—प्रश्न सुनकर उत्तर लिखने का अभ्यास कराना।

११—ऊपर लिखी विभिन्न परिचित वस्तुओं, पशुओं, पक्षियों आदि के सम्बन्ध में पहिले वार्तालाप द्वारा कुछ बता कर पुनः उनमें से किसी एक के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछ कर उनमें से किसी एक (क्रमशः अधिक) के विषय में कुछ (चार छ वाक्य) लिखने के लिए प्रोत्साहित करना।

कक्षा ३-४:—

१—श्याम पट पर लिखे हुए ऐसे वाक्यों में जिनमें कर्त्ता या कर्म संज्ञा शब्द हों, किसी एक का (क्रकशः अधिक का) स्थान रिक्त करके उसकी पूर्त्ति कराना।

२—इसी प्रकार क्रमशः क्रिया तथा विशेषण के रिक्त स्थानों की पूर्त्ति कराना। यह ध्यान रखने की बात है कि यहाँ संज्ञा, क्रिया और विशेषण बताना अनिवार्य नहीं है, यह क्रम अध्यापक अपने मस्तिष्क में रक्खेगा)।

३—साधारण गद्यांश का मौन पठन कर लेने के पश्चात् उससे सम्बन्धित बोध-परीक्षा के प्रश्नों का मौखिक रूप से उत्तर ढुँढ़वाना।

४—इन्हीं प्रश्नों में से कुछ श्याम पट पर लिख कर (और क्रमशः बोलकर) उनको उत्तर लिखवाना।

५—श्यामपट पर कुछ (तीन चार) संज्ञा शब्द लिखकर उनके नीचे कुछ ऐसे वाक्य लिखे जांय जिनमें (प्रत्येक में) उन शब्दों में से एक ही शब्द ठीक बैठ सके। वाक्य में उस शब्द के स्थान को रिक्त रखकर बालकों से उन अनेक शब्दों में चुनकर किसी एक को जो सब से अधिक उपयुक्त हो, उस स्थान में भरने का प्रयत्न कराना।

६—इसी प्रकार क्रमशः सर्वनाम और विशेषणादि शब्दों का विभिन्न वाक्यों के लिए अर्थानुकूल उपयुक्त चुनाव कराना।

७—पाठ्य पुस्तकों में आये हुए साधारणतः आवश्यक प्रचलित शब्दों और प्रायः प्रयोग में आने वाली लोकोक्तियों को अपनी मौखिक भाषा में प्रयोग कराना और तत्पश्चात लिखाना।

८—मेला, खेल तथा नित्य के अनुभवों से सम्बन्धित कुछ बातों की प्रश्नोत्तर द्वारा पुनरावृत्ति करके उनमें किसी के विषय में कुछ (१०, १५ पंक्तियां) लिखने के लिए प्रोत्साहित करना।

९—यथासम्भव शुद्ध भाषा में छोटी छोटी कहानियां कहवाना और तत्पश्चात उन्हें स्पष्ट रुप से लिखवाने का प्रयत्न करना।

१०—पिता, भ्राता तथा अन्य कुटुम्बियों को पत्र लिखकर अपना समाचार भेजना और क्रमशः अन्य आवश्यक बातों से परिचित कराने का अभ्यास कराना।

११—किसी आवश्यक कार्यवश कुछ दिनों का अवकाश माँगने के लिए पाठशाला के प्रधानाध्यापक को प्रार्थना-पत्र आदि लिखवाना।

कक्षा ५—

१—क्रिया-विशेषण तथा विभिन्न प्रकार के अव्ययों, संयोजकों आदि का स्थान रिक्त करके उनकी पूर्त्ति कराना (विशुद्ध व्याकरण-शिक्षा की दृष्टि से नहीं वरन् रचना-शिक्षा की दृष्टि से)।

२—श्यामपट पर एक ही पंक्ति में अनेक संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रिया शब्द लिखकर नीचे लिखे अनेक वाक्यों के रिक्त स्थानों

में उनमें से उपयुक्त शब्दों को भरने का प्रयास कराना और आवश्यकता के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने की टेव डालना।

३—कुछ वाक्यों के शब्दों को अव्यवस्थित करके उन्हें श्यामपट पर लिखना और विद्यार्थियों से उन्हें व्यवस्थित कराना।

४—रचनात्मक दृष्टि से साधारण अशुद्ध वाक्य देकर उन्हें शुद्ध रूप में लिखवाना (ये अशुद्धियाँ अत्यन्त साधारण कोटि की होनी चाहिये)।

५—एक वचन कर्त्ता से प्रभावित होने वाली क्रिया के वाक्य को बहुबचन कर्त्ता के प्रभावानुकूल परिवर्त्तित कराना और इसकी विपरीत स्थिति को लिखाकर बोध कराना।

६—पुल्लिंग कर्त्ता से प्रभावित वाक्यों को स्त्रीलिंग कर्त्ता शब्दों से प्रभावित कराना।

७—छोटे की ओर से बड़े को और बड़े की ओर से छोटे को सम्मान तथा प्यार सूचक शब्दों का प्रयोग सिखाना।

८—किसी उच्च सरकारी कर्मचारी को प्रार्थना-पत्र लिखने से सम्बन्धित मोटी बातें बताना—जैसे राशनिंग अफसर से कार्ड बनवाना पुलिस को समाचार देना। आवश्यकतानुकूल वस्तुओं को दूर के व्यापारियों से मँगाने के सम्बन्ध में साधारण पत्र की मोटी बातें बताना तथा प्रधानाध्यापक को लिखे गये प्रार्थना पत्रों-आदि की भिन्नता का बोध करना।

९—किसी छोटी कहानी अथवा किसी महापुरुष के संक्षिप्त जीवन-चरित्र को पढ़कर बिना पुस्तक देखे उसे लिखने का प्रयास कराना।

१०—विद्यार्थी के वातावरण तथा शिक्षा-स्तर से सम्बन्धित महत्व पूर्ण स्थानों, दृश्यों और घटनाओं आदि का साधारण वर्णन लिखाना।

११—प्रधान त्योहारों और स्थानीय मेलों आदि पर होने वाले मनोरंजक कार्यों का व्यक्तिगत अनुभव के अनुकूल साधारण वर्णन कराना।

ख—साधारण माध्यामिक शिक्षा-काल—(कक्षा ६, ७, ८ जूनियर हाई स्कूल, उत्तर प्रदेश)।

१—अनुलोम-विलोम शब्दों के प्रयोग बालकों के वाक्यों में कराना।

२—कुछ लोकोक्तियों को श्यामपट पर लिखकर उनके सारांश समझाने के पश्चात् नीचे कुछ सापेक्ष्य वाक्यों को अपूर्ण रूप में लिख कर यह ढुँढ़वाना कि उनमें किस लोकोक्ति का वहां प्रयोग उचित है।

३—किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ बातें बताने के पश्चात् कुछ प्रधान शीर्षक श्यामपट पर लिखे जांय जिनमें वह वर्णन सम्पूर्ण रूप से आ जाय। पुनः बालकों द्वारा उसे उन शीर्षकों के आधार पर उस वर्णन को पूर्ण रूप से लिखाना।

४—कुछ सरल स्पष्ट वाक्यों को अलग २ लिखकर उनसे यह ढुँढ़वाना कि किन प्रश्नों के उत्तर में ये वाक्य लिखे जा सकते हैं।

५—एक ही गद्यांश को एक ही साथ पढ़कर पूरी कक्षा के विद्यार्थियों द्वारा उस अंश में सम्भाव्य प्रश्नों का संकलन कराना।

६—कहानी को संवाद के रूप में लिखाना।

७—अनिवार्य शिक्षा-काल की अन्तिम कक्षा के निमित्त बताये गये विषयों (महत्वपूर्ण स्थानों, दृश्यों, और घंटनाओं आदि) का अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन कराना।

८—विद्यालय में होने वाले विभिन्न समारोहों उत्सवों तथा विशेष आयोजनों का द्रष्टा के रूप में वर्णन लिखाना।

९—विभिन्न त्योहारों, मेलों आदि के मूल कारणों के ऐतिहासिक तथा पौराणिक तथ्यों पर प्रकाश डालकर तदनुकूल उनका अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन लिखाना।

१०—विशुद्ध वर्णनात्मक रचनाओं से आगे बढ़ कर कल्पना-शक्ति

को उद्‌बोधित करने के लिए काल्पनिक वर्णन कराना—जैसे—यदि मैं वायुयान चालक होता, यदि मैं भारत का राष्ट्रपति होता आदि।

११—प्रधान सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों से सम्बन्धित विषयों पर अति साधारण विचारात्मक लेख लिखवाना यथा अछूतोद्धार, पर्दा-प्रथा, प्रेत-बाधा, मन्दिर-प्रवेश, सरपंच का चुनाव आदि।

१२—साधारण उपयोग में आने वाले सभी प्रकार के पत्र-व्यवहारों से सम्बन्धित प्रधान बातों का कुछ ज्ञान कराना।

१३—लिखने या भाषण देने से पहिले रचना की सूक्ष्म रूप-रेखा तैय्यार कर लेने की सुटेव डालना, जिससे रचना में विषयान्तर होने से बचाया जा सके।

ग—उन्नत माध्यमिक-शिक्षा-काल-(कक्षा ९, १०, ११, १२, उत्तर प्रदेश

१—आवरण में समानता पर अर्थ में असमानता रखने वाले शब्दों और लोकोक्तियों का सोच समझ कर प्रयोग करने की टेव डालना—जैसे—लड़का-बेटा, छात्र-शिष्य, दान-प्रदान, तरसना-तरस आना, सिर पीटना-सिर फोड़ना, मन भर जाना-दिल भर जाना आदि:—

'लड़का' शब्द प्रत्येक लड़के के निमित्त प्रयोग में आ सकता है किन्तु 'बेटा' शब्द के विषय में यह बात अनुचित होगी।

'मोहन माडल स्कूल का छात्र हो सकता है—किन्तु शिष्य नहीं' और 'सोहन मेरा शिष्य हो सकता है माडल स्कूल का नहीं।'

'मैं चीनी के लिए तरसता हूँ' किन्तु मुझे चीनी पर तरस नहीं आती। हाँ चीनी-वितरण की व्यवस्था करने वालों की बुद्धि पर तरस आती हो तो बुरी बात नहीं है।'

'सिर पीटने से सिर में चोट लगती है, और सिर फोड़ने से भी। किन्तु 'सिर पीटना' अपने लिए और 'सिर फोड़ता' दूसरों के लिए

प्रयोग किया जाता है। ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों को इन अन्तरों का ज्ञान रख कर प्रयोग करना सिखाना होगा।

२—वाक्यों के अनेक रिक्त स्थानों में कठिन भावों से सम्बन्धित शब्दों की पूर्ति।

३—कारकों के चिन्हों (ने को आदि) के प्रभाव से वाक्यों को क्रियाओं के लिंग वचन आदि पर उचित प्रभाव का ध्यान रखने की टेव डालना।

४—शब्दों के स्थानीय मान का ध्यान रख कर वाक्य में उनका स्थान निर्धारित करने का अभ्यास (पीछे के पृष्ठों में उदाहरण देखिए)।

५—प्रसंग के अनुसार एक ही शब्द के भिन्न अर्थों का ध्यान रख कर यथावश्यक प्रयोग कराने का अभ्यास।

६—दूसरी ज्ञात भाषाओं के कुछ सुन्दर वाक्यों का मौलिक ढंग से अनुवाद करने का अभ्यास।

७—विश्लेषण द्वारा गुम्फित वाक्यों का ठीक सम्बन्ध समझने का अभ्यास, जिससे यदि अनिवार्य रूप से कभी लम्बे और गुम्फित वाक्य लिखने ही पड़ें तो वे अशुद्ध और भ्रामक न हो जायँ।

८—जटिल तथा अस्पष्ट वाक्यों को सरल तथा स्पष्ट वाक्यों में परिवर्त्तित करने का अभ्यास।

९—वाक्यों की सभी सूक्ष्म अशुद्धियों की परख करने का अभ्यास।

१०—उच्च कोटि के वर्णनात्मक तथा कल्पना-प्रधान विषयों पर नाटकीय ढंग से लेख लिखना।

११—सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों से सम्बन्धित विचार प्रधान विषयों पर पुस्तकों में प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त अपने स्वतन्त्र विचार का अनुसरण जरने का अभ्यास।

१२—विवादग्रस्त विषयों पर वादाविवाद और तर्क द्वारा अपने पक्ष को विपक्षी के विरुद्ध संतुलित करके बोलने और लिखने का अभ्यास।

१३—विषय का शीर्षक जान कर कक्षा-पुस्तकालय तथा क्रमशः स्कूल-पुस्तकालय से आवश्यक पुस्तकें निकाल कर यथोचित रचना-सामग्री के एकत्रीकरण का अभ्यास।

१४—उच्च कोटि की शैली और भाषा को आदर्श रूप में सामने रख कर स्वतन्त्र विषय पर उस शैली और भाषा के अनुकरण का अभ्यास। (यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विद्यार्थी का कार्य अनुकरण करने तक ही न रह जाय वरन क्रमशः उच्च आदर्शों से वह अपनी भाषा को पांजल और शैली को स्वतन्त्र रूप से सजीव बनाने में सफल हो जाय)।

१५—बड़ी रचनाओं और लम्बे व्याख्यानों को पढ़ कर निष्कर्ष या सारांश निकालने का अभ्यास।

१६—पठित रचनाओं या सुने हुए व्याख्यानों, वक्तृताओं आदि को समालोचना की कसौटी पर कस कर साधारण विवेचनात्मक रचनाएँ कर सकने का अभ्यास।

उच्च कक्षाओं के निमित्त निर्दिष्ट अभ्यासों के उदाहरण के लिए इसी अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों से सहायता ली जा सकती है।

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'उन्नत माध्यमिक शिक्षा काल' के अन्त तक पहुंच कर रचना सम्बन्धी उक्त सभी बातों का ज्ञान विद्यार्थी को अवश्य हो जाय क्योंकि हमारे देश के बहुत कम विद्यार्थी विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं। जो उच्च शिक्षा पा सकेंगे वे उक्त विषयों को सम्यक प्रकार से जानने और सूक्ष्म विवेचन करके उत्कृष्ट रचना करने का अभ्यास वहीं कर सकेंगे। किन्तु जिन ९० प्रतिशत की शिक्षा 'उन्नत माध्यमिक

काल' तक ही समाप्त हो जायगी उनके लिए उक्त बातों का साधारण ज्ञान हो जाना आवश्यक है जिससे वे रुचि होने से स्वतन्त्र अभ्यास के आधार पर (बिना विश्वविद्यालयों में भर्ती हुए) अपनी रचनाओं को सर्वाङ्ग सुन्दर तथा व्यापक बना सकें।

संशोधन—रचना-शिक्षण का अन्तिम अंग उचित प्रकार का संशोधन है। ऊपर कही हुई अनेक त्रुटियों से अत्यधिक सावधान रहने पर भी बालक रचना में अनेक प्रकार की भूलें करते रहते हैं, क्योंकि भूलों में ही उनके सीखने का क्रम निहित है। अतएव जैसा पीछे कहा गया है सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि हम उनकी अशुद्धियों का शोध इस प्रकार करें जिससे उनके विकास क्रम में बाधा न पहुँचे और उनकी रचना का भावी पथ प्रशस्त होता चले। इन अशुद्धियों की छान-बीन में उसकी सहायता अनिवार्य रूप से ली जानी चाहिए और उनके शुद्ध रूपों की खोज में भी उसका अपना भाग अवश्य होना चाहिए। इस कार्य में विद्यार्थी तीन प्रकार की भूलें करता है।—

१—भूत कालीन ज्ञान अथवा अध्यापक के विगत निर्देशों में शंका उत्पन्न हो जाने के कारण।

२—शीघ्रता में।

३—अज्ञानता बश।

प्रथम प्रकार की भूलों के सुधार में यदि उससे उचित सहायता ली जाय तो अपनी ७५ प्रतिशत भूलें वह स्वयं ही सुधार सकता है और उन सुधारों से भविष्य के लिए अधिक सतर्क भी हो सकता है। दूसरे प्रकार की भूलों में से अधिकांश केवल पुनः पुनः पढ़ लेने से ही सुधर जाती हैं। शेष की ओर अध्यापक का संकेत मात्र यथेष्ट है। तृतीय प्रकार की भूलें ही ऐसी भूलें हैं जिनके ऊपर उसका भावी ज्ञान अवलम्बित होता है। इसलिए इन्हीं त्रुटियों को दूर करने के लिए

अध्यापक को सबसे अधिक सचेष्ट रहना चाहिए। विद्यार्थी अपने भूत कालीन अनुभवों और अध्यापक द्वारा दिए गये निर्देशों का यथा साध्य ध्यान रखते हुए चलता है, किन्तु ज्योंही स्थिति उसके ज्ञान या अभ्यास की परिधि से बाहर की बातों से सम्बन्धित हो जाती है त्यों ही वह कोई न कोई भूल कर बैठता है। यदि संयोग से वह अपनी पहुँच के बाहर की बातों को भी शुद्ध रूप से लिख सका तो अपनी इस सफलता पर फूला नहीं समाता। किन्तु यदि भूलें हुई और अध्यापक ने साम दाम का प्रयोग किया तो विद्यार्थी के रचना-विकास में भारी क्षति पहुँचती है और प्रायः वह आत्म-विश्वास खो बैठता है। फलतः अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के सहारे अपने सामने के अन्धकार को प्रकाशमय बना सकना (विचार द्वारा अज्ञात को ज्ञात में परिणत करना) उसके लिए कठिन हो जाता है।

इसलिए रचना संशोधन की सर्व प्रधान कुञ्जी यह है कि उसकी भूलों का सुधार अत्यधिक सहानुभूति के साथ किया जाय। वह कुछ ऐसी भूलें भी कर सकता है जिन्हें उसके ज्ञान स्तर (कक्षा) को ध्यान में रखकर त्रुटि कहना उचित न हो और साथ ही उस अल्प ज्ञान की अवस्था में यदि उन त्रुटियों का सुधार किया जाय तो उससे कोई लाभ न हो। इसलिए अध्यापक को इस बात के लिए भी सतर्क रहना चाहिए कि बालक की किन त्रुटियों में सुधार अपेक्षित हैं और किन में नहीं (अर्थात् किन भूलोंके सुधार का समय अभी नहीं आया है)

जो भूलें अधिकांश विद्यार्थियों द्वारा की जाती हैं उनका सुधार श्याम पट पर लिखकर या मौखिक रूप से समझा कर किया जा सकता है। किन्तु जो भूलें विद्यार्थी व्यक्तिगत रूप से करता है, उनका सुधार व्यक्तिगत रूप से होना चाहिए।

सबके अन्त में छात्रों की रचनाओं के सम्बन्ध में प्रथमतः व्यक्तिगत और अन्ततः तुलनात्मक विचार-विनिमय तथा विवेचन आवश्यक

हैं। इससे छात्र को अध्यापक को निकट से समझने और उससे प्रभावित होने का उचित अवसर मिलता है। यदि संशोधन विद्यार्थी की अनुपस्थिति में किए जायँ तो उन अशुद्धियों पर भी व्यक्तिगत रूप से प्रकाश डालने के पश्चात् सामूहिक रूप से उनकी विवेचना की जाय अन्यथा विद्यार्थी उन संशोधनों से पूरा लाभ न उठा सकेंगे।

संशोधन के समय पीछे दिए गए रचना-शिक्षण के पाठ्य-क्रम को ध्यान में रखना आवश्यक है।

नवाँ अध्यय

पाठ्य पुस्तक और पाठ

पाठ्य पुस्तक—अब हमारे सामने यह समस्या आती है कि हम अपने छात्रों के लिए किस प्रकार की पाठ्य पुस्तकों की व्यवस्था करें जिससे उसको वांछित सफलता प्राप्त हो सके। प्रायः देखा जाता है कि पुस्तकों की विषय-सूची के शीर्षक बड़े ही आकर्षक हैं, किन्तु जब पुस्तक के भीतर हमारे ज्ञान-चक्षु का प्रवेश होता है तब सारा गुड़ गोबर दिखाई देता है। अनेक ऐसी पुस्तकें अधिकारियों द्वारा बिना उचित छान बीन के बालकों के पाठ्य क्रम में रख दी जाती हैं जिनसे बालक के विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है और कभी कभी अध्यापक उनसे खीझकर अपनी दयनीय अवस्था पर पश्चाताप करने लगता है। यह दुर्दशा यहाँ तक पहुंच गई है कि कहीं २ उच्च अधिकारियों द्वारा बिना सोचे समझे (शीघ्रता में या लेखक विशेष का नाम देखकर) पुस्तकें विद्यार्थियों के पाठ्य क्रम में रख ली जाती हैं और जब विद्यार्थी उन्हें प्राप्त करके दो चार महीने तक लाभ हानि भोग चुकते हैं, तो उसी वर्ष उन्हीं अधिकारियों द्वारा पुनः आज्ञा निकाली जाती है—"अमुख पुस्तकें त्रुटि-पूर्ण, व्यतिक्रमित तथा निःप्रयोजन हैं उन्हें पाठ्य क्रम से निकाल दिया गया।"

यह स्थिति इस बात को स्पष्ट करती है कि हमारी पाठ्य पुस्तकों के विषय उचित क्रमानुकूल, आवश्यक सीमा के भीतर और वांछित विधि से न लिखे जायँ तो वे आवश्यक लाभ कदापि न पहुंचा सकेंगी इस महत्वपूर्ण कार्य की छान-बीन के लिए एक उचित कसौटी का होना अनिवार्य है।—

यदि पाठ्य-ग्रंथों के प्रणयन, सम्पादन तथा मुद्रण आदि विषयों में निम्नांकित बातों का ध्यान रक्खा जाय तो इच्छानुकूल सफलता की आशा असम्भव न होगी:—

१—पुस्तकों की भाषा कक्षा के अनुकूल-कुछ प्रारम्भिक अध्यायों में सरल, क्रमशः गुम्फित और जटिल होनी चाहिए।

२—प्रारम्भिक लोकोक्तियाँ तथा जन-श्रुतियाँ बालक के सीमित घरेलू वातावरण से सम्बन्धित हों। धीरे धीरे उनमें साहित्य की वांछित पुट दी जानी चाहिए।

३—प्रारम्भ के विषयों का बालक की अनुभव-परिधि के भीतर होना आवश्यक है।

४—स्थानीय सीमा से क्रमशः बढ़कर प्रादेशिक, देशीय और विदेशीय तथा विश्वव्यापक विषयों के वर्णन का समावेश हो।

५—वर्णन की शैली आकर्षक, मनोरंजक तथा विद्यार्थियों की साधारण रुचि के यथा सम्भव निकट हो।

६—वर्णनात्मक पाठों से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए कल्पना-प्रधान और विचार-प्रधान तथा गवेषणात्मक विषयों की व्यवस्था हो, जिससे विद्यार्थी की अभिव्यक्ति का पथ प्रशस्त होने के साथ ही उसकी कल्पना, दूरदर्शिता, प्रतिभा तथा विचार-संकलन-शक्ति में वृद्धि हो।

७—विषयों के रचनात्मक रूप की चर्चा पहिले और बिनाशात्मक रूपों की चर्चा (यदि वह अनिवार्य ही हो तो) पीछे होनी चाहिए।

८—पाठ इतने लम्बे न हों जिनसे विद्यार्थी की ग्रहण-शक्ति को असुविधा हो। प्रारम्भिक कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में कोई पाठ ऐसा न होना चाहिए जिसे पढ़ाने में ३५-४० मिनट से अधिक समय लगे। जहाँ यह सम्भव न हो सके वहाँ पाठ को ऐसे भागों

में विभक्त कर देना चाहिए। माध्यमिक तथा उच्च कक्षाओं में भी यह एक सीमा तक आवश्यक है।

६—पाठ यथासम्भव अन्य विषयों के समकक्षीय ज्ञान से सम्बन्धित हों (प्रायः देखा जाता है कि जो बालक भारतवर्ष का प्रारम्भिक इतिहास और प्रारम्भिक भूगोल पढ़ते रहते हैं उनके पाठ्य क्रम में भाषा तथा अन्य विषयों की पुस्तकों में नेपोलियन बोनापार्ट का जीवन चरित्र और नई दुनियाँ का पता लगाने वाले नाविकों की कहानियाँ भर दी जाती हैं। ऐसे स्थानों और कार्यों के विषय में आवश्यक प्रकार का समकक्षीय ज्ञान न होने से बालक न उनको समझ पाता है और न उन्हें समझने की उत्कट इच्छा ही उसे होती है।

१०—सांस्कृतिक विषयों में पहिले स्थानीय तत्पश्चात् अन्तर प्रांतीय और अन्त में सार्वदेशिक सभ्यता का वर्णन होना चाहिए।

११—बालक की दैनिक प्राकृतिक आवश्यकता के विषयों की चर्चा को प्रथम और ऐश्वर्य, अन्वेषण तथा अनुसन्धान सम्बन्धी विषयों को द्वितीय स्थान देना चाहिए।

१२—उच्चकोटि की चारित्रिक तथा नैतिक शक्ति वृद्धि के लिए कुछ आदर्श पाठों का होना अनिवार्य है।

१३—ज्ञान-वृद्धि के साथ ही व्योहार-कुशलता की शिक्षा देने वाले पाठों का भी समावेश हो।

१४—पलायन वादी तथा उदासीनता के विचारों की वृद्धि करने वाले पाठ न रक्खे जायँ।

१५—प्रांतीय, जातीय तथा राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कटुता बढ़ाने वाले पाठ न रक्खे जायँ।

१६—प्रायः पुस्तकों में प्रथम पाठ में लिखी हुई ऐसी ईश्वर प्रार्थनायें जो सब कुछ छोड़कर ईश्वरीय सहायता की भिक्षा मांगने की शिक्षा देती हैं (और जिनसे विद्यार्थी अपने को नगण्य और ईश्वर

को ही सब कुछ समझ कर अपनी शक्ति अप्रत्यक्ष रूप से खोने लगता है) न रक्खी जायँ।

१७—वासना तथा अवांछित उद्वेगों को उत्पन्न करनेवाले पाठ न रक्खे जायँ।

१८—पाठों के लिखने का क्रम तथा ढंग शिक्षा-सिद्धान्त तथा मनोविज्ञान के नवीनतम अनुसंधानों और प्रयोगों के अनुकूल हो।

१९—प्रारम्भिक और माध्यकिक कक्षाओं के प्रत्येक पाठ के अन्त में बोध-परीक्षक तथा अभ्यासात्मक प्रश्नों का होना अनिवार्य है। उच्च कक्षाओं में भी ऐसे सूत्र रूपी प्रश्नों का होना लाभदायक है।

२०—पुस्तकों के सम्पादन का कार्य ऐसा होना चाहिए, जिससे विद्यार्थी के साथ ही अध्यापक को भी शिक्षण-कार्य में उचित सहायता प्राप्त हो। यथा—अविख्यात तथा अल्प विख्यात नामों, प्रसंगों, कथानकों तथा कम प्रयोग में आने वाले नवीन शब्दों, लोकोक्तियों तथा जन-श्रुतियों आदि का संक्षिप्त और स्पष्ट परिचय दे देना आवश्यक है। किन्तु इन बातों को पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में ही स्थान देना चाहिए, जिससे अध्यापक को उनकी व्याख्या करने में सुविधा हो और उनसे सम्बन्धित अन्य पठन सामग्रियों का संकलन करने में कठिनाई न पड़े।

२१—लेखकों तथा कवियों के परिचय माध्यमिक कक्षाओं में अति संक्षिप्त तथा उच्च कक्षाओं में संक्षिप्त रूप से अवश्य लिखे जाने चाहिए।

२२—पुस्तकें इस प्रकार के कागज पर न छपी हों जिससे एक ओर के अक्षरों की छाया दूसरी ओर दिखाई पड़े। अक्षर कक्षा की दृष्टि से प्रारम्भ में बड़े और क्रमशः माध्यमिक और उच्च कक्षाओं में छोटे हों। किन्तु किसी भी अवस्था में दस-बारह प्वाइंट से छोटे 'काला पाइका' अक्षरों का प्रयोग विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों में न होना चाहिए।

२३—वर्णित विषयों से सम्बन्धित चित्र यदि पाठों के साथ ही लगा दिए जा सकें तो अति सुन्दर है। उनका आवश्यक संकेत भी चित्रों के नीचे होना चाहिए।

२४—पुस्तक की लम्बाई चौड़ाई और मोटाई बालकों की शारीरिक योग्यता के अनुकूल होनी चाहिए। (आरम्भिक कक्षाओं की पुस्तकें अधिक चित्रों और मोटे अक्षरों के कारण साधारण से कुछ बड़ी (बेसिक रीडर की तरह) होनी चाहिए। किन्तु माध्यमिक और उच्च कक्षाओं में इसकी आवश्यकता नहीं है।

इन सभी बातों की उचित छान-बीन करके पुस्तकें पाठ्यक्रम में रक्खी जायँ और यदि असम्भव न हो तो इस कार्यके लिए एक समिति बनाई जाय जिसमें २५ प्रतिशत राजकीय सदस्य, २५ प्रतिशत विद्वान (जो राज्य के कर्मचारी न हों) २५ प्रतिशत लेखक तथा २५ प्रतिशत प्रकाशक हों। कम से कम ७५ प्रतिशत सदस्यों की स्वीकृति से पुस्तकें पाठ्य-क्रम में रक्खी जायँ।

भाषा की पाठ्य-पुस्तकों में दो प्रकार के पाठ होते हैं—

१—गद्य

२—पद्य

गद्य—भाषा शिक्षण के उद्देश्यों की चर्चा करते समय (अध्याय १) हमने जिन मुख्य उद्देशों को मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास का मूलाधार कहा है, उनकी पूर्ति गद्य शिक्षा से ही होती है क्योंकि विचार-विनिमय का साधन गद्य ही है।

पद्य—मानव-हृदय की भावनाओं तथा रागद्वेषमय प्रवृत्तियों के व्यक्त करने का वह संगीतमय कोष है जिससे मनुष्य अपनी अन्तर्प्रेरणा को मूर्तिमान करके वाह्यविश्व में प्रतिध्वनित कर देता है। पद्य

अति महत्त्वपूर्ण होते हुए भी द्वितीय स्थान रखता है। इसलिए हम इनकी चर्चा भी इसी क्रम से करेंगे।

गद्य-शिक्षण के उद्देश्य—विचारों के आदान-प्रदान का मुख्य साधन होने के कारण गद्य के पाठ उन सभी विषयों के हो सकते हैं जिनसे हमारा रंच मात्र भी सम्बन्ध है। गणित, ज्योतिश, धर्मशास्त्र, नीति-शास्त्र, योग-शास्त्र, दर्शन, मीमांशा, राजनीति, अर्थशास्त्र, साहित्य, भौतिक-विज्ञान, जन्तु-विज्ञान, वृत्त-विज्ञान समाज-विज्ञान, सभी उसके भीतर हो सकते हैं। केवल साहित्य के पाठ भी ऐतिहासिक, काल्पनिक, नैतिक, कथात्मक. विवेचनात्मक, अलोचनात्मक, संवादयुक्त तथा नाटकीय आदि भिन्न २ प्रकार के हो सकते हैं। इसलिए विभिन्न प्रकार के पाठों की शिक्षा के अनेक भिन्न २ उद्देश्य भी हैं। किन्तु कुछ उद्देश्य ऐसे हैं जो सामान्यरूप से सभी गद्य-पाठों के सम्बन्ध में निर्धारित कर लिए गए हैं—

१—पाठों में लिखी हुई प्रत्येक बात का वाँछित भाव और स्पष्ट अर्थ समझ सकने की शक्ति का विकास करना।

२—पठित पाठों में अर्जित ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से अपने शब्दों में व्यक्त कर सकने का अभ्यास कराना।

३—शब्द-कोष की वृद्धि तथा श्रेष्ठ विचारों का संकलन कराना।

४—रुचि के अनुकूल भावाभिव्यक्ति के विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा अनेक प्रणालियों और शैलियों से परिचय प्राप्त करके इच्छानुकूल अनुकरण कराना और क्रमशः अपनी स्वतन्त्र शैली का स्वरूप निर्धारित कराना।

५—दूसरों के विभिन्न भावों को पढ़कर आनन्दित होना और अपनी रचना में वैसा ही आनन्द दूसरों को प्रदान करने की क्षमता बढ़ाना।

६—स्थिति, विषय तथा श्रोताके अनुकूल हाव भाव युक्त स्वाभाविक भाषामें बात चीत अथवा भाषण करने की क्षमता बढ़ाना।

७—कल्पना-शक्ति की वृद्धि करते हुए विभिन्न पाठों से प्रभावित होकर शिक्षा ग्रहण कराना।

८—व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि करना।

९—नैतिक उत्थान का पथ प्रशस्त करना।

१०—जीवन का आदर्श निर्धारित कराना।

पीछे जिन विषयों को चर्चा की गई है उन सब के कुछ मुख्य उद्देश्य भी होते हैं। इसलिए अध्यापक को गद्य-शिक्षण का संकेत बनाते समय इन दोनों प्रकार के उद्देशों का ध्यान रखना चाहिए और और सामान्य उद्देशों की चर्चा करने के पश्चात मुख्य उद्देशों की चर्चा भी करनी चाहिए।

यदि प्रकृति-वर्णन का पाठ हो तो मुख्य लक्ष्य 'प्रकृतिसे प्रेम उत्पन्न करना' होगा, यदि कथा-कहानी के पाठ हों तो 'कल्पना-शक्ति की वृद्धि' तथा 'चरित्र का विकास' मुख्य उद्देश्य में आजायँगे। इसी प्रकार जीवन चरित्र के पाठ में 'आदर्श का अनुकरण' विचारात्मक तथा गवेशणात्मक पाठों में तर्क और विवेचना की शक्ति बढ़ाना; वैज्ञानिक आविष्कारों, अनुसंधानों तथा अन्वेषणों के पाठ में ज्ञानर्जन तथा साहस-वृद्धि; आलोचनात्मक पाठोंमें समीक्षा-शक्ति की वृद्धि और गुण-दोष के विवेचन की क्षमता तथा एक ही तुला द्वारा अनेक प्रकार के विचारों को सन्तुलित करने की क्षमता बढ़ाना इत्यादि मुख्य उद्देश्य होंगे।

गद्य-शिक्षण-विधि—गद्य शिक्षण की वर्त्तमान विधि हरबर्ट के सिद्धान्तों के आधार, पर बनाई गई है। (देखिए हमारी 'शिक्षा-विधि' में हरबर्ट के पंच सोपान)। बालक के पूर्वार्जित ज्ञान से पाठ

को इस प्रकार सम्बंधित करना चाहिए कि उसे अपने अनुभवों का प्रयोग करते हुए पाठ की बातें सीखने का प्रोत्साहन मिले।

हरबर्ट के पाँचों सिद्धान्त इस प्रकार हैं:—

१—प्रस्तावना

२—विषय-प्रवेष

३—आत्मीकरण (विस्तार पूर्वक व्याख्या, जिसे विषय के अनुकूल 'तुलना' भी कहते हैं।)

४—सिद्धान्त-निर्धारण (आवृत्ति)

५—प्रयोग।

प्रस्तावना—'प्रस्ताव' तथा 'प्रस्तावना' दो शब्द हैं और इनमें कुछ अन्तर भी है। वर्तमान समय में यह अन्तर बहुत बढ़ गया है। अब 'प्रस्ताव' शब्द से सभा के सामने उपस्थित मन्तव्य का ही अधिक बोध होता है, यद्यपि उसके भी अर्थ—प्राक्कथन, भूमिका, उपोद्घात, विषय-परिचय आदि हैं। ये शब्द प्रस्तावना के अर्थ में भी कहे जा सकते हैं। 'प्रस्तावना' का प्रयोग नाटक में अभिनय के पूर्व विषय का परिचय देने के लिए प्रारम्भ हुआ। इसी अर्थ में वह आधुनिक प्रस्ताव शब्द से अधिक भिन्नता रखता है अन्यथा यदि 'प्रस्ताव' शब्द का आधुनिकतम अर्थ हम अलग करदें और 'प्रस्तावना' शब्द का प्राचीनतम अर्थ अलग कर दें तो दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

सच यह है कि प्रस्तावना में हम विषय को विद्यार्थी के सामने उसकी रुचि तथा पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर उपस्थित करने का यत्न करते हैं। प्रस्तावना में हम यह विश्वास करते हैं कि पढ़ाये जानेवाले पाठ के विषय में कुछ ऐसी बातें कहेंगे जिनसे बालक हमारे द्वारा पढ़ाये जाने के लिए नहीं, अपनी इच्छा से पढ़ने के लिए तैय्यार

हो जायगा। उससे उसके मन में कुतूहल उत्पन्न होगा और वह जिज्ञासु बन कर पाठ की समस्त बातों की ओर आकर्षित रहेगा–हमारा यह प्रारम्भिक प्रयत्न ही प्राक्कथन, भूमिका अथवा प्रस्तावना है।

प्रत्येक नये पाठ की शिक्षा के समय ऐसा करते रहने का कारण यह है कि:—

पीछे के घंटों में बालक का मन दूसरे विषय तथा दूसरे पाठों में लगा रहता है। नवीन बातों की चर्चा से उसे प्रभावित करने के लिए यह आवश्यक है कि उन विषयों से उसका ध्यान हटाकर हम एक नई दिशा की ओर उसे उन्मुख करें। (प्रस्तावना अधिक घुमा फिरा कर नहीं करनी चाहिए।)

प्रस्तावना में दो तीन प्रश्नों से अधिक होना उचित नहीं है क्योंकि ३५,४० मिनट के पाठ में इससे अधिक समय इस कार्य में नहीं लगाया जा सकता। उन प्रश्नों से सम्बधित जो बातें अध्यापक प्रस्तावना में कहना चाहे उन में कुल मिलाकर तीन चार मिनट से अधिक न लगना चाहिए।

प्रस्तावना अनेक प्रकारों से की जाती है:—

च—केवल प्रश्नों द्वारा।

छ— चित्र द्वारा।

ज—खिलौनों अथवा मूर्तियों द्वारा।

झ—प्राकृतिक साधनों (फल फूल पत्ती आदि) द्वारा।

क—अप्रत्यक्ष किन्तु ज्ञात वस्तुओं, स्थानों आदि द्वारा (जैसे माधव राव का धौरहरा या विश्वनाथ का मन्दिर)

ख—छपे अथवा श्यामपट पर खींचे हुए मान-चित्र द्वारा।

ग—ज्ञात कथा या प्रसंग द्वारा।

विषय-प्रवेश—इसके पश्चात बालक की मानसिक स्थिति का ध्यान रखते हुए पाठ को विभिन्न सोपानों (भागों) में बांट देना चाहिए और प्रत्येक सोपान को बालक के समक्ष निम्नांकित क्रमसे उपस्थित करना चाहिए:—

क—सोपान में आए हुए मुख्य अज्ञात शब्दों को श्यामपट पर क्रम से लिखना और प्रत्येक के सामने विद्यार्थी की सहायता से निकाले गये अर्थ को अंकित करना। भिन्न प्रकार के शब्दों के अर्थ निम्नांकित भिन्न-भिन्न विधियों से विद्यार्थी द्वारा निकलवाए जा सकते हैं:—

१—प्रयोग द्वारा—वर्षा के दिनों में प्रायः आकाश में 'जलद' घिर आते हैं—इस वाक्य में 'जलद' शब्द का क्या अर्थ समझते हो?

२—व्युत्पत्ति द्वारा—'त्रिपुरारि' त्रिपुरा + अरि = महादेव (जिसने त्रिपुरा का विनाश किया)।

३—तुलना द्वारा—कृपिण शब्द का अर्थ बताने के लिए—भगवान रामचन्द्र बड़े दानी थे किन्तु रावण बड़ा 'कृपिण' था।

४—अज्ञात वस्तु-प्रदर्शन द्वारा—जैसे-अखरोट, खूबानी, रेशम।

५—श्यामपट पर रेखा-चित्र बनाकर जैसे षठकोण, अशर्फी।

६—कार्य द्वारा - जैसे—निचोड़ना का अर्थ समझाने के लिए उस कार्य को दिखाना।

७—पर्याय वाची शब्दों द्वारा—दिन-मणि दिवाकर रवि, सूर्य।

८—सन्धिविग्रह द्वारा—जगन्नाथ, अवधेश।

९—समास विग्रह द्वारा—त्रिनेत्र, निशि-पति।

१०—व्याख्या द्वारा—(जब अन्य कोई विधि न काम दे)।

इसी प्रकार जिन अन्य अनुभूत विधियों को अध्यापक उपयुक्त समझे काम में ला सकता है (वाक्य खण्डों तथा वाक्यों और लोकोक्तियों का अर्थ बताने के लिए आगे 'व्याख्या' में देखिए)।

इसके पश्चात प्रारम्भिक कक्षाओं (कक्षा १ और २—प्राथमिक पाठशाला, उत्तरप्रदेश) में अध्यापक को **आदर्शपाठ** (सस्वर) इस प्रकार उपस्थित करना चाहिए कि प्रत्येक कठिन उच्चारण के शब्द स्पष्ट हो जायँ और गद्यांश के भावों को समझने में विद्यार्थी को सहायता मिले। इससे ऊपर की कक्षाओं में वह गद्यांश विद्यार्थियों को **मौन पठन** द्वारा समझने का यत्न करने के लिए दे दिया जायगा।

इन दोनों ही अवस्थाओं में अपनी स्वतंत्र बुद्धि से विद्यार्थी भाव ग्रहण कर सकने में किस सीमा तक समर्थ हुआ है इसकी जाँच के निमित्त एक दो प्रश्न पूछना चाहिए इसे **बोध परीक्षा** कहते हैं।

प्रारम्भिक कक्षाओं में इसके पश्चात ही दूसरा **आदर्श पाठ** करके आत्मीकरण कराना चाहिए, किन्तु अन्य कक्षाओं में (कक्षा २ के आगे) बोध-परीक्षा के पश्चात **प्रथम आदर्श पाठ** करना चाहिए और उसके पश्चात आत्मीकरण अथवा व्याख्या।

आत्मीकरण:—व्याख्या द्वारा विद्यार्थी के पूर्वार्जित ज्ञान के सहारे पाठ में उपस्थित बातों का ज्ञान कराया जाता है। परिचित परिस्थितियों की समानता और असमानता द्वारा तथा विचार-विश्लेषण द्वारा उसे भावों को ग्रहण करने का अवसर दिया जाता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'आत्मीकरण' के समय ही शब्दार्थ भी बताना चाहिए किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि नवीन तथा अपरिचित शब्दों से तादात्म्य न स्थापित होने के कारण उस गद्यांश के विषय में विद्यार्थी की रुचि उचित रूप से जाग्रत नहीं हो पाती, इसलिए 'आत्मीकरण' के पहले किये गये सारे कार्य उसके लिए प्रायः व्यर्थ सिद्ध होते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनका कहना है कि अध्यापक को यह कैसे पता चलेगा कि विद्यार्थी किन शब्दों को जानते हैं और किनको नहीं।

इसके साथ ही दूसरी कठिनाई उनकी यह है कि उन शब्दों के अर्थ लिखते समय विद्यार्थी से क्या कहा जाय—अर्थात उसको कैसे समझाया जाय कि हम यह बिना सिर पैर की बातें क्यों बोल और लिख रहे हैं।

इन समस्याओं में पहिली के समाधान में मैं उस दीन अध्यापक के ऊपर दया के अतिरिक्त और क्या करूँ जिसके लिए आज के युग में भी यह ज्ञान रखना असम्भव है कि उसके विद्यार्थी क्या जानते होंगे और क्या नहीं। उसे केवल यही सलाह दी जा सकती है कि वह अध्यापन-कार्य छोड़कर कोई और कार्य करे। दूसरी के सम्बन्ध में मैं समझता हूँ (नवीन युगके प्रायः विद्वान भी इससे सहमत हैं) कि यदि शब्दार्थ लिखने से पहिले और प्रस्तावना के पश्चात विद्यार्थियों से कह दिया जाय—आज के पाठ में कुछ नवीन शब्द प्रयोग में आये हैं। आओ हम पहिले इनका अर्थ समझ लें, जिससे पाठ का पूरा भाव सरलता पूवक हम लोगों की समझ में आ सके—तो कोई पाप न होगा।

अतएव यह आवश्यक है कि हम विद्यार्थी को दिए जाने वाले नये पाठ के पूर्व-ज्ञान से भली भाँति परिचित हों, और आने वाली परिस्थितियों में उसे अधिक जागरुक रखने के लिए यथावश्यक उसका पूर्व-ज्ञान और बढ़ादें जिससे वह पाठ को अधिक सरलता पूर्वक समझ सके। विस्तृत व्याख्या के लिए पीछे शब्दार्थ में लिखी विधियों के अतिरिक्त निम्नलिखित विधियां काम में लाई जा सकती हैं:—

१—चित्र, रेखा-चित्र. मान-चित्र, मूर्तियों अथवा अन्य साधनों द्वारा—जैसे—शुतुरमुर्ग, वियतनाम, महर्षि दयानन्द।

२—उदाहरण द्वारा—जैसे—'सविनय अवज्ञा' का अर्थ समझाने के लिए अंग्रेजी शासन के विरुद्ध किए गये महात्मा गांधी के अन्दोलन का उदाहरण देकर।

३—सांकेतिक व्याख्या द्वारा—जैसे—'सुभाष भारतवर्ष का लेनिन था' में इस बात की ओर संकेत करना कि किस प्रकार लेनिन ने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये अपना जीवन खतरे में डाल दिया।

४—आदर्श अभिनय द्वारा—जैसे—'अंगद ने पद रोप कर प्रतिज्ञा की' का भाव स्पष्ट करने के लिए उसे करके दिखाना।

५—अन्तर्गत कथा द्वारा—जैसे—श्री रामचन्द्र के इस वाक्य का भाव समझाने के लिए—'जब तक निशाचरों का नाश न हो तुम अग्नि में निवास करो।

६—विश्लेषण अथवा वाक्य-विच्छेद द्वारा—प्रायः लम्बे वाक्यों तथा गुम्फित वाक्य खंडों को अलग २ करके स्पष्ट किया जाता है।

इसी प्रकार अन्य अनुभूत उत्तम विधियों के सहारे विस्तृत व्याख्या विद्यार्थियों के समक्ष उपस्थित करनी चाहिए। सबसे अधिक ध्यान इस बात की ओर देना चाहिए कि सम्पूर्ण व्याख्या यथा सम्भव केवल प्रश्नों और उत्तरों में ही समाप्त हो जाय। वह व्याख्या उत्तम नहीं कही जा सकती, जिसमें अध्यापक को भाषणों द्वारा अधिक समझाना पड़े क्योंकि उससे विद्यार्थी की जिज्ञासा तथा आत्म-चेष्टा को उचित अवसर नहीं मिलता। इस दशा में वह सुनी हुई बातों को सीखने और आचरण में परिणत करनेके स्थान पर उदासीन श्रोता की तरह अप्रभावित रह जाता है।

व्याख्या के समय कक्षा में ऐसी वस्तुओं से सहायता न लेनी चाहिए, जिनसे विद्यार्थी का कुतूहल आवश्यकता से अधिक बढ़ जाय और वह पढ़ने का कार्य छोड़कर विनोद में लग जाय। जैसे:—

१—'धायँ धायँ' अथवा 'धड़ाका' शब्द को स्पष्ट करने के लिए कक्षा में पिस्तौल या बन्दूक की आवाज करना।

२—'रिसौहाँ' शब्द का भाव समझाने के लिए बार बार भौंहें चढ़ाकर क्रोध-सूचक आकृति बनाना—(मेरे एक छात्राध्यापक ने

'रदपुट फरकत नयन रिसौहें' का भाव समझाने के लिए अभिनय द्वारा स्पष्ट किया किन्तु इसके शीघ्र पश्चात् कक्षा के प्रायः विद्यार्थी वही अभिनय करने में लग गये और पाठ का आनन्द वहीं समाप्त हो गया।) इसलिए अंग संचालन बहुत सोच समझ कर तथा बहुत आवश्यक होने पर ही करना चाहिए। ठहाका मारकर हँसने, खुजलाने आदि के भद्दे अंग संचालन कक्षा के लिए अनुचित हैं।

सिद्धान्त निर्धारण अथवा आवृत्ति – यदि पढ़ाये हुए पाठ में कोई सिद्धान्त या नियम निर्धारित कराने का उद्देश्य रक्खा गया हो तो व्याख्या के पश्चात् ही विद्यार्थियों की सहायता से वह सिद्धान्त निकलवाना चाहिए (जैसे व्याकरण, अलंकार आदि की शिक्षा में) किन्तु यदि यह उद्देश्य न हो, तो पाठ की आवृत्ति करा कर उसे पक्का करा लेना चाहिए। 'पंच सोपान' के सिद्धान्तों की दृष्टि से आवृत्ति अपना स्वतन्त्र महत्व रखती है। अनुभव यह सिद्ध करता है कि आवृत्ति के पहिले विद्यार्थियों द्वारा पठित गद्यांश का 'व्यक्त पाठ' (सस्वर पठन) करा लेना अनिवार्य है अन्यथा समूचे शिक्षण क्रम में उसे अपना व्यक्त पाठ सुधारने का अवसर ही न प्राप्त होगा।

व्यक्त पाठ में विद्यार्थी द्वारा की हुई भूलों को यथा सम्भव दूसरे विद्यार्थियों से ही शुद्ध कराना चाहिए। कक्षा के बालकों को व्यक्त पाठ कराते समय क्रम से (एक पंक्ति के पहले, दूसरे, तीसरे, बालक को) नहीं पढ़ाना चाहिए अन्यथा शेष बालक उचित रूप से सतर्क न रहेंगे। साथ ही पूरा गद्यांश एक बालक से न पढ़वा कर बीच बीच में अनेक बालकों को पढ़ने का अवसर देना चाहिए। इसी क्रम से पाठ के सभी सोपानों को पढ़ाना चाहिए। विद्वानों का विचार है कि आवृत्ति या अभ्यासात्मक प्रश्न में केवल प्रधान बातों पर ही ध्यान रखना चाहिए।

इसके पश्चात् श्यामपट-सार लिखने के लिए भी कुछ दो-चार मिनट समय देना आवश्यक है अन्यथा शब्द-कोष आदि की वृद्धि के लिए उनके पास लिखित साधनों का अभाव हो जायगा।

प्रयोग—सबके अन्त में पाठ से जो कुछ ज्ञान बालक को दिया जाय उसके प्रयोग की ओर उसे उत्साहित करना चाहिए। यदि समय की कमी के कारण कक्षा में प्रयोग सम्बन्धी अधिक बातों का अभ्यास न कराया जा सके तो ऐसे कार्य घर से करके लाने के लिए कहना चाहिए जिनसे विद्यार्थी को अर्जित ज्ञान की आवश्यकता और उपयोगिता का कुछ न कुछ महत्व प्रतीत हो और वह उसे भावी जीवन में काम में ला सके।

ऊपर यह कहा गया है कि आज की वर्त्तमान गद्य शिक्षा-विधि हर्बर्ट के 'पंच सोपान' के आधार पर बनी है किन्तु फिर भी साधारण रूप से अनेक नई बातें जोड़ दी गई हैं इसलिए यह स्पष्ट है कि उसके सिद्धान्त अक्षरशः नहीं माने गये हैं। (गद्य का पाठ-संकेत या पाठसूत्र आगे के पृष्ठों में देखिए)

ऊपर गद्य-शिक्षण के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह नवीनतम मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुकूल है। फिर भी स्वतन्त्र विचारक होने के नाते मेरी दृष्टि से अध्यापक पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता। यदि कोई अन्य विधि वह अधिक लाभदायक समझता हो अथवा उक्त विधि में कोई साधारण परिवर्त्तन करना चाहता हो तो वह स्थिति और उपयोगिता को ध्यान में रख कर विद्यार्थी के हित के लिए प्रयोग में ला सकता है।

प्रारम्भिक कक्षाओं में गद्य-शिक्षा—यद्यपि गद्य और पद्य की शिक्षण-विधियाँ भिन्न भिन्न हैं किन्तु हमारी प्राथमिक तथा साधारण माध्यमिक पाठशालाओं (बेसिक तथा जूनियर हाईस्कूल) में पढ़ाई जाने वाली भाषा की पाठ्य-पुस्तकों में गद्य-पद्य, सम्वाद, नाटक, कथा,

कहानी, सभी प्रकार के पाठ एक साथ ही दिए जाते हैं। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं (हायर सेकेन्डरी स्कूल) में इस स्थिति में परिवर्त्तन हो जाता है। वहाँ पद्य, साधारण गद्य, कहानियों तथा नाटक आदि की अलग २ पुस्तकें पाठ्यक्रम में रक्खी जाती हैं। इसलिए उच्च कक्षाओं के गद्य-स्तर को ध्यान में रखकर गद्य-शिक्षण-विधि में भी कुछ साधारण परिवर्त्तन करने पड़ते हैं, यद्यपि विधि का मूल रूप प्रायः वैसा ही रहता है।

प्रारम्भिक कक्षाओं के बालकों के शिक्षण में यदि अध्यापक चित्रों, मूर्तियों या किसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा प्रस्तावना करना चाहे तो उसे वस्तु दिखाकर यह न बताना चाहिए कि यह अमुक वस्तु है अथवा अमुक व्यक्ति की मूर्ति या चित्र है, क्योंकि ऐसा करने पर बालक की उत्सुकता और जिज्ञासा का असामयिक समाधान हो जाता है। उचित यह है कि उससे—यह किसकी मूर्ति है ? इस चित्र में तुम क्या देखते हो ? किसान क्या कर रहा है ? बैल क्या खा रहे हैं ? आदि आवश्यक प्रश्न किए जायँ और पहिले उन्हें उसके सम्बन्ध में कुछ बताने और समझने का अवसर दिया जाय। इसी प्रकार यदि विस्तृत व्याख्या के समय भी अध्यापक चित्र आदि का दिखलाना उपयोगी समझे तो प्रश्नोत्तर द्वारा ही चित्र का प्रयोग करे।

प्रायः देखा जाता है कि अध्यापक कक्षा के सामने चित्र लगा देंगे, और व्याख्या करने लगेंगे—देखो यही ताजमहल है, यह चाँदनी रात में कितना सुन्दर लगता है, इसी को शाहजहाँ ने अपनी प्यारी रानी मुमताजमहल की स्मृति में बनवाया था आदि। बालक यह सब निष्क्रिय होकर सुनता है, इसलिए उस पर आवश्यक प्रभाव नहीं पड़ता। मेरी दृष्टि में भाषा का सर्वोत्तम पाठ वह है जिसमें अध्यापक अपनी भावाभिव्यक्ति, व्याख्या तथा अभिव्यंजना द्वारा वाणी से ही चित्र अथवा मूर्ति आदि की आवश्यकता की पूर्ति कर दे। किन्तु यदि और

विषयों की तरह भाषा के पाठ में भी वह चित्र आदि का प्रयोग आवश्यक समझे तो ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र है। बातों को घुमा फिराकर लम्बी, अस्पष्ट तथा अमनो वैज्ञानिक प्रस्तावना करने से अधिक अच्छा यह है कि विद्यार्थी को सीधी बात बता दी जाय—यदि उसकी प्रस्तावना ही रोचक न हुई तो सम्भव है पाठ का शेषांश भी यथेष्ठ रूप से रोचक न हो सके।

मौन पठन में ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों के मुख से किसी प्रकार की आवाज न निकले। अधिक अच्छा हो कि ओठ भी न हिलें। किन्तु यदि कक्षा ३, ४ तक ओठों का हिलाना न रोका जा सके तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। कक्षा पाँच में और उसके पश्चात् ओठों का हिलाना अवश्य बन्द हो जाना चाहिए इसलिए कक्षा तीन चार से ही विद्यार्थियों को इस बात का ध्यान दिलाना आवश्यक है। यदि सम्भव हो तो अध्यापक उदाहरण द्वारा मौन पठन सिखाकर उसे यह समझा दे कि पढ़ना सीख लेने के पश्चात् आगे के लिए पढ़ने के कार्य में मुख की सहायता अनिवार्य नहीं है—श्याम पट पर एक वाक्य लिखिए 'मोहन रोटी खाता है।' विद्यार्थियों से कहिए 'तुम लोग बिना बोले (केवल आँखों से देखकर) अपने २ मन में इस वाक्य को पढ़ो।' जब आप यह समझें कि विद्यार्थी पढ़ चुके होंगे तो वाक्य को मिटा दीजिए और प्रत्येक पंक्ति के एक, एक विद्यार्थी से पूछिए 'तुमने क्या पढ़ा?' सबके उत्तरों के पश्चात् आप स्वीकृति दीजिए कि यही बात लिखी गई थी। अब उनसे यह पछिए कि तुमने ओठ नहीं हिलाया, मुख से कोई आवाज नहीं की, तब तुमने कैसे पढ़ लिया? विद्यार्थी स्वयं आश्चर्य में पड़ जायँगे कि बिना ओठ, जिह्वा और मुख आदि की सहायता के उन्होंने कैसे पढ़ लिया और आपके बिना बताये ही वे यह निष्कर्ष निकाल लेंगे, कि पढ़ने के कार्य में नेत्र और मस्तिष्क की सहायता अनिवार्य है, ओठ, जिह्वा आदि की नहीं।

इसी प्रकार मौन पठन के लिए और कई प्रकार के उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो कक्षा के स्तर, विद्यार्थी की व्यक्तिगत आवश्यकता तथा अध्यापक की चतुरता पर निर्भर करते हैं। उन सबकी चर्चा का यह स्थान नहीं है।

प्रारम्भिक मौन पठन में प्रायः विद्यार्थी प्रत्येक शब्द और पंक्ति को उँगुली के सहारे ध्यान पूर्वक पढ़ने का यत्न करते हैं। कुछ समय तक, भले ही उँगुली की सहायता से लाभ उठाने देना अनुचित नहीं है किन्तु इसे आदत का रूप धारण करने देना तो अवश्य ही अनुचित है। इसलिए कक्षा दो के कुछ प्रारम्भिक सप्ताहों के पश्चात् उन्हें ऐसा करने से रोकना प्रारम्भ कर देना चाहिए। कक्षा दो के अन्त में पहुँचते २ विद्यार्थी की यह कुटेव दूर हो जानी चाहिए। प्रारम्भ में मौन पठन के लिए बहुत छोटे अंश दिए जायँ तो अच्छा होगा।

आदर्श पाठ (सस्वर)—कक्षा तथा स्थान के अनुकूल होना चाहिए (पीछे के अध्यायों ४ और) में सफल वार्तालाप तथा भाषणादि के आवश्यक गुणों तथा सुवाचन के नियमों पर ध्यान रखते हुए तथा पृष्ठ ४४ में लिखे गये 'शब्दों पर आवश्यक बल' शीर्षक के भीतर दिए गये उदाहरणों को अच्छी प्रकार समझते हुए आदर्श पाठ करना चाहिए। यदि अध्यापक आवश्यक समझे तो नियम के विरुद्ध भी एकाध बार आदर्श पाठ दे सकता है। (गद्य और पद्य के आदर्श पाठों का अन्तर समझने के लिए पद्य के आदर्श पाठ से सम्बन्धित उदाहरणों को देखिए।)

बोध परीक्षा के प्रश्न पूरे सोपान के प्रधान भाव से सम्बन्धित होने चाहिए। इस प्रकार के प्रश्न वहाँ न पूछे जायँ जिनके उत्तर विद्यार्थी विस्तृत व्याख्या सुन लेने के पश्चात् ही दे सकते हैं। शब्दों के अर्थ और अन्तर्गत कथा से सम्बन्धित प्रश्न बोध परीक्षा में कभी न पूछना चाहिए।

विस्तृत व्याख्या के प्रश्नों की संख्या इतनी बड़ी होनी चाहिए कि प्रश्न समय के भीतर समाप्त हो जायँ। प्रायः देखा जाता है कि व्याख्यात्मक प्रश्नों की संख्या बढ़ाने के लिए छात्राध्यापक एक ही प्रश्न की भाषा परिवर्तित करके उसे दूसरे प्रश्न का रूप दे देते हैं। ऐसा अभ्यासात्मक प्रश्नों में होना अनुचित नहीं है, किन्तु व्याख्या में ऐसे प्रश्नों से समय नष्ट हो के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं होता। प्रसंगों तथा अन्तग कथाओं के विषय में कुछ कहने से पहिले अध्यापक को इस बात की थाह लगा लेनी चाहिए कि उसका कौन सा अंश विद्यार्थी जानते हैं और कौन नहीं। यदि उनकी जानी ई बातों में कोई त्रुटि हो तो आवश्यक सुधार करने के साथ ही आगे की बात बताना लाभदायक होगा। प्रश्नों के उत्तर यथासम्भव पूरे वाक्यों में माँगे जायँ। उत्तर देने के लिए उत्सुकतावश लड़कों को बार बार हाथ उठाने से रोकना चाहिए। जो लड़के बहुत हाथ उठाएँ उनसे कुछ कठिन प्रश्न ही पूछना चाहिए। कथा या प्रसंग में आने वाले ऐसे नामों को जिनसे विद्यार्थी परिचित न हों, श्यामपट पर लिख देना चाहिए। जिन प्रश्नों के उत्तर अध्यापक सुचारु रूप से दे सकता हो उन्हें ही पूछना उचित है। व्याख्या के प्रश्न पहिले से सोचकर आना जितना आवश्यक है, समुचित उत्तरों को सोच लेना उससे कम आवश्यक नहीं।

यदि बालक प्रश्न का ठीक उत्तर दे किन्तु भाषा अशुद्ध हो तो दूसरे एक दो विद्यार्थियों द्वारा उसे शुद्ध करानी चाहिए। यदि आवश्यक हो तो सहायता भी देनी चाहिए। यदि विद्यार्थी श्न का ठीक उत्तर भी न दे और उत्तर की भाषा भी अशुद्ध हो तो पहिले ठीक उत्तर निकलवाने का प्रयत्न करना चाहिए। भाषा उसके पश्चात् शुद्ध करानी चाहिए पहिले नहीं। यदि पाठ के उस अंश से कोई शिक्षा मिलती हो या उस अंश का कोई संक्षिप्त सार निकल सके तो अन्त में निकलवाना चाहिए।

आवृत्ति या अभ्यासार्थ प्रश्नों की संख्या ४० मिनट के घंटे में चार पाँच से अधिक नहीं होनी चाहिए। प्रश्न ऐसे हों जिनके द्वारा पहिले की व्याख्या को विद्यार्थी अपने प्रकाश में देखने का अवसर प्राप्त कर सके। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उन्हीं चार पाँच प्रश्नों के भीतर पठित भाग की सब प्रधान बातें आ जायँ।

जब विद्यार्थी श्यामपट से शब्दार्थ आदि अपनी अभ्यास-पुस्तिका में लिखने लगें तो यह आवश्यक है कि अध्यापक घूमते रहकर उनका निरीक्षण करे और इस बात की ओर सतर्क रहे कि विद्यार्थी शब्दों को शुद्ध शुद्ध लिख रहे हैं। इस समय उनके बैठने तथा लेखनी पकड़ने के ढंगों (देखिये अ० ७) पर ध्यान रखना चाहिए। कक्षा पाँच तक यथासम्भव सरकण्डे 'नरकट, किलिच तथा मुश्कवेद आदि की लेखनी से ही लिखें।

गद्य-शिक्षण में कदापि समवेत पाठ न कराना चाहिए। यदि पुस्तक में पाठ अध्यापक की सुविधा तथा क्रमानुकूल उपयोगिता को ध्यान में रखकर संकलित न किये गये हों तो अध्यापक एक स्वतन्त्र सूची बनाकर उसके अनुकूल पाठ पढ़ा सकता है।

उच्च कक्षाओं के गद्य शिक्षण में पूर्वकथित बातों के अतिरिक्त यह ध्यान में रखना चाहिए कि बोध-परीक्षा, व्याख्या तथा अभ्यास आदि सबके प्रश्नों की भाषा एक सीमा तक उत्कृष्ट और शैली अनुकरणीय हो। अन्य भाषाओं के शब्दों से अध्यापक स्वयं भी यथा सम्भव (एक सीमा तक) बचने का प्रयत्न करे और विद्यार्थी के उत्तरों को भी इस दृष्टि से परिष्कृत करते रहने की ओर प्रोत्साहित करे। प्रारम्भिक तथा माध्यमिक कक्षाओं को स्वतन्त्र रूप से पाठ्य-पुस्तक के भीतर या बाहर के पाठ पढ़ाने की जो इच्छानुकूलता या सुविधा प्राप्त रहती है वह उच्च कक्षाओं में आकर क्रमशः घटते घटते समाप्तप्राय हो जाती है। इसदृष्टि से यहाँ पाठ्यपुस्तकों को ही अधिक महत्व देना ठीक

है। इसलिए उच्च कक्षाओं के गद्य शिक्षण में इस बात की ओर सतर्क रहना अधिक आवश्यक है कि बाहरी पाठ पाठ्य-पुस्तकों मेंनिर्धारित पाठों से निकट का सम्पर्क रखने पर भी कम पढ़ाये जायँ अन्यथा पाठ समय की सीमा में समाप्त न होंगे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पाठ्य पुस्तकों से परीक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्नों का सम्भाव्य संकलन करके उनके उत्तर लिखने में विद्यार्थी को अभ्यस्त करा दिया जाय, जिससे वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाय। परीक्षा में उत्तीर्ण होना विद्यार्थी के अनेक उद्देश्यों में से एक हो सकता है और भाषा सम्बन्धी परीक्षा की तैय्यारी के लिए भी यदि वह सचेष्ट रहता है तो, भाषा शिक्षण के उद्देश्यों की आंशिक पूर्ति भी हो जाती है। किन्तु यह संकुचित दृष्टि-कोण है। अध्यापक को व्यापक दृष्टिकोण से कार्य करना चाहिए। यदि वह इस बात की आवश्यकता समझता है कि पाठ्य पुस्तकों में निर्धारित पाठों के अतिरिक्त कुछ ऐसी बातें हैं जिनका ज्ञान विद्यार्थी के लिए आवश्यक है अथवा जिन्हें पढ़ लेने से पुस्तकों में निर्धारित पाठ अधिक सुविधा पूर्वक पढ़ाये जा सकते हैं, तो अवश्य उसे पढ़ाना चाहिए। उसका लक्ष्य पुस्तक पढ़ाना नहीं, दी हुई निश्चित सीमा तक विद्यार्थी को भाषा का ज्ञान कराना है।

उच्चतर कक्षाओं में अनुभव-वृद्धि के साथ विद्यार्थी की बुद्धि, चेष्टा, ग्रहणशक्ति, तथा अभिव्यक्ति आदि का एक सीमा तक विकास हो चुका रहता है। इसलिए उसे विचारोत्पादक विषयों पर वक्तृता देना, निबन्ध लिखना तथा वाद विवाद करने की उसकी योग्यता बढ़ाना भी अध्यापक का लक्ष्य होना चाहिए। विद्यार्थी पाठ पढ़कर उसका अर्थ और सारांश जानने तथा उसे अपने प्रयोग में लाने की योग्यता बढ़ाकर ही सन्तुष्ट न हो जायँ, वरन् यह भी समझने का यत्न करें कि उस गद्य-पाठ की शैली कैसी है, भाषा में क्या विशेषता है, लेखक के किन विचारों से वह सहमत है और किनसे नहीं। तात्पर्य

यह कि अब उमे क्रमशः साहित्यसमीक्षा का कार्य भी सिखाया जाय जिससे वह ग्राह्य, अग्राह्य अनुकरणीय तथा त्याज्य का निर्णय कर सके, और साहित्य की गति के साथ अपना ज्ञान बढ़ाने में समर्थ हो।

इन कक्षाओं में भिन्न भिन्न विख्यात गद्य-लेखकों की उपयोगी सूक्तियों तथा विचारों के कुछ अंश इस प्रकार कंठस्त करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे अपने लेखों और भाषणों आदि में आवश्यकतानुकूल उनका लिखित या मौखिक प्रयोग कर सकें।

पठित कहानियों को सम्वाद के रूप में परिणत कराना, विभिन्न वस्तुओं की आत्म-कथायें लिखाना, नाटक या सम्बाद के अंशों को साधारण कहानी का रूप देना, किसी कहानी, नाटक या उपन्यास के प्रधान पात्रों के चरित्र की विशेषता बताना, तथा उनमें एक दूसरे की तुलना करना, एक निश्चित भाव या विचार से साम्य रखने वाले दूसरे लेखकों के विचारों का संकलन करना, साधारण गद्य को विशुद्ध हिन्दी शब्दों से युक्त भाषा में परिवर्त्तित करना, एक ही शब्द को भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग करना आदि अनेक प्रकार के अभ्यास उच्चतरमाध्यमिक कक्षाओं के लिए लाभदायक हैं।

द्रुत पाठ—उच्चतर (तथा माध्यमिक) कक्षाओं में जिन अनेक प्रकार की पुस्तकों की चर्चा की गई है, उनमें कुछ ऐसी भी होती हैं जिन्हें पाठ्यक्रम में इसलिए नहीं रक्खा जाता कि विद्यार्थी उनमें आये पाठों का गम्भीर अध्ययन करें तथा विस्तृत व्याख्या द्वारा उनको सम्पूर्ण रूप से जान लेने का यत्न करें, वरन् इसलिए कि उनसे उन्हें साहित्यिक रसास्वादन, विनोद तथा व्योहार-कुशलता के साथ ही अधिक से अधिक ज्ञानार्जन की सुविधा प्राप्त हो। ये पुस्तकें द्रुत पाठ की पुस्तकें कही जाती हैं। यद्यपि ऐसा समझा जाता है, कि इन पुस्तकों में लिखे पाठों को विद्यार्थी सरसरी दृष्टि से पढ़ जायँ और उतना महत्व न दें जितना प्रधान पाठ्य पुस्तकों को देते हैं। किन्तु

अनुभव यह बतलाता है कि भावी जीवन में अधिक साहित्यिक उन्नति करनेवाले विद्यार्थी प्रायः द्रुत पाठ की पुस्तकों से ही प्रभावित हुए रहते हैं। इसलिए इनके महत्व का अनुचित अंकन करना भारी भूल होगी।

द्रुत पाठ-शिक्षण के निम्नांकित उद्देश्य हैं :—

१—ज्ञान वृद्धि।

२—मनोरंजन।

३—औत्सुक्य वृद्धि।

४ बिना अध्यापक की सहायता लिए पाठों को पूर्वार्जित ज्ञान के सहारे समझ सकना।

५—साहित्यिक रसास्वादन।

६—एक निश्चित भाषा और शैली से प्रभावित होना।

७—समझ कर पढ़ने में तीव्रता उत्पन्न करना।

८ - आगे चलकर साहित्य की अनेक पुस्तकें सरलता पूर्वक पढ़ने और समझने की क्षमता उत्पन्न करना।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि द्रुतपाठ की पुस्तकें पढ़ने में विद्यार्थी अपने उस सम्पूर्ण अनुभव और ज्ञान का प्रयोग करता है जो अन्य प्रधान पुस्तकें पढ़ाने तथा पुस्तक के बाहर की बातें बताने में अध्यापक उसे देता रहता है। अनेक ऐसे शब्द, वाक्य-खण्ड, तथा लोकोक्तियाँ जिन्हें वह एक बार पढ़कर भूल जा सकता है, द्रुतपाठ की पुस्तकों में बार-बार प्रयुक्त होती रहती हैं। इसलिए ये पुस्तकें उस अर्जित ज्ञान को पक्का तथा प्रयोगिक बनाने में विद्यार्थी को सहायता पहुँचाती हैं।

पुस्तकालयों की पुस्तकें पढ़ने की रुचि उसे द्रुत पाठ की पुस्तकों से ही जाग्रत होती है।

द्रुत पाठ की पुस्तकों में जो कहानियाँ अथवा नाटक आदि रक्खे गँ, उनकी भाषा विद्यार्थियों की कक्षा के भाषा-स्तर से मिलती-

जुलती हो। अधिक अच्छा हो कि इसमें कुछ अधिक अपठित शब्द, समास, सन्धियाँ तथा लोकोक्तियाँ हों, जिनका ज्ञान बालक को स्वयं पढ़ते रहकर होता चले। किन्तु यहाँ इस बात पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है कि ऐसे शब्द, समास आदि एक वाक्य में एक से अधिक न हों और वह वाक्य भी ऐसा हो कि उसके शेष शब्द विद्यार्थी को बिना अध्यापक की सहायता लिये ही (केवल अपने अनुभव द्वारा) उस नवीन शब्द के अर्थ समझने में आवश्यक सहायता दें।

उनके विषय ऐसे हों जिनसे विद्यार्थियों को बुद्धि और चरित्र का विकास होने के साथ ही ज्ञान-वृद्धि भी हो। कहानी तथा आत्म-कथा के ढंग पर लिखे गये महापुरुषों के जीवन-चरित्र, उच्चकोटि की शिक्षाप्रद किन्तु साहित्यिक और अति रोचक पौराणिक तथा प्रागैतिहासिक कथायें जो अनेक अध्यायों में लिखी गई हों, और प्रत्येक अध्याय में नवीन घटना-क्रम, नया वातावरण तथा नवीन अनुभव की बाते हों। कुछ निकट भूत तथा वर्त्तमानकाल के लेखकों की उत्तम सामाजिक रचनायें, यात्राओं के वर्णन, अन्वेषण और अनुसन्धान की कहानियाँ तथा मनुष्य मात्र के लिए हितकर अन्य कार्यों का वर्णन करनेवाली बातें इन पुस्तकों को अधिक उपयोगी बना सकेंगी। प्रारम्भिक कक्षाओं (कक्षा ६—७) में द्रुत पाठ की पुस्तकों का अधिकांश वर्णन-प्रधान होना ही अधिक लाभदायक है, यद्यपि उनमें मनोरंजकता के साथ ही अत्यन्त साधारण साहित्यिक पुट का होना भी आवश्यक है। क्रमशः उनमें उच्चकोटि के साहित्य, उच्चतर शैली और भाषा तथा श्रेष्ठतम विचार और भाव बढ़ते जायँगे। व्यर्थ की धार्मिक, जातिगत बातों तथा पलायनवादी, दुःखात्मक, अवांछित विनोदमय तथा हतोत्साहित करनेवाली बातों से इन पुस्तकों को दूर रखना ही उत्तम है।

पीछे यह कहा जा चुका है कि द्रुत-पाठ की पुस्तकें प्राथमिक कक्षाओं में नहीं रक्खी जातीं और माध्यमिक में नाम मात्र को

रक्खी जाती हैं। किन्तु इसके साथ ही एक बात महत्वपूर्ण है कि इन कक्षाओं में भी हम मौखिक रूप से द्रुत-पाठ का कार्य सक्रिय रखते हैं। बच्चों से कही जानेवाली कहानियाँ, संवाद तथा वर्णन आदि इसके उदाहरण हैं। अतएव उनसे कही जाने योग्य कहानियों की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

बच्चे अपने वातावरण तथा जीवन की दैनिक आवश्यकताओं और घटनाओं के निकट सम्पर्क में रहते हैं और उनकी रुचि तथा जिज्ञासा उनमें ही अधिक से अधिक सीमित होती है। इसलिए हम अपने वर्णन तथा अपनी कहानियाँ उनसे ही चुनें तो अधिक लाभ हो। मनोरंजन के साथ ही भावाभिव्यक्ति की यथेष्ट उन्नति का ध्यान रखकर इनका चुनाव करना चाहिए। कुछ और आगे चलकर सामूहिकता तथा सद्भावना की वृद्धि इनका प्रधान लक्ष्य हो जाना चाहिए। आगे की कक्षाओं में द्रुतपाठ जो महत्व रखते हैं उनसे कई गुना अधिक महत्व इन प्रारम्भिक कहानियों तथा वर्णनों को देना चाहिए।

कहानी शिक्षा :—कहानी शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

१—बालकोचित मनोरंजन करना।

२—क्रम बद्ध भावाभिव्यक्ति की टेव डालना।

३—एक ही समय एक लम्बी बात को सुनकर स्मरण रख सकने की शक्ति का विकास करना।

४—सुनी हुई बातों के प्रकाश में चिन्तन करने की टेव डालना।

५—श्रेष्ठ कल्पनाओं का विकास करना।

६—बालक की भावनाओं को जाग्रत तथा इच्छाओं को सन्तुष्ट करना।

७—आदर्शानुकरण द्वारा चरित्र का विकास करना।

कहानी शिक्षा के तीन अङ्ग—बालक तीन प्रकार से कहानी द्वारा लाभ उठाते हैं—

१—अध्यापक से सुनकर।

२—स्वयं कहकर।

३—लिखकर।

पहला और प्रधान प्रभाव उनपर कहानी सुनकर ही पड़ता है। कहानी कहकर प्रभावित होने की स्थिति पीछे आती है। इसलिए अध्यापक द्वारा कही जानेवाली कहानियों का प्राथमिक महत्व है। कहानी इस प्रकार कही जानी चाहिए कि छात्र उसे सुनने के लिए वाध्य हो जायँ। उन्हें ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि अध्यापक भी उसमें उतना ही आनन्द प्राप्त कर रहा है जितना वे स्वयं करते हैं।

प्रारम्भ में सुनाई जाने वाली कुछ कहानियों के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं है कि वे बालकों की पुस्तकों से ही चुनी जाँय। अध्यापक इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि स्थितिकाल और वातावरण तथा बालकों की इच्छा के अनुकूल वह उनके कक्षा-स्तर को ध्यान में रखकर कोई प्रभावोत्पादक कहानी (जो वह उचित समझता है) कहे। यह भी आवश्यक नहीं है कि वह किसी कहानी को उसके पूर्व निर्धारित रूप में ही सुनाये—वह उसमें आवश्यकतानुकूल परिवर्त्तन कर सकता है स्थिति और काल के अनुकूल घटनाओं या कथाक्रम को घटा बढ़ाकर कहने के लिए वह स्वतन्त्र है। यदि वह किसी विदेशी कहानी को देशी आवरण में बालक के समक्ष उपस्थित करना चाहता है तो 'जान' और 'मेरी' के स्थान पर 'मोहन' और कमला' तथा 'वाशिंगटन' और 'लांड्स' के स्थान पर 'दिल्ली' और 'कानपुर' का नाम रख लेना उचित ही नहीं आवश्यक भी है।

कहानी कहने में भाषा के स्तर तथा उसकी प्रभावोत्पादकता का ध्यान रखना भी कला का एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रारम्भिक

प्रारम्भ में सुनाई जाने वाली कुछ कहानियों के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं है कि वे बालकों की पुस्तकों से ही चुनी जायँ। अध्यापक इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि स्थिति, काल और वातावरण तथा बालकों की इच्छा के अनुकूल वह उनके कक्षा-स्तर को ध्यान में रखकर कोई प्रभावोत्पादक कहानी (जो वह उचित समझता है) कहे। यह भी आवश्यक नहीं है कि वह किसी कहानी को उसके पूर्व निर्धारित रूप में ही सुनाये वह उसमें आवश्यकतानुकूल परिवर्तन कर सकता है। स्थिति और काल के अनुकूल घटनाओं या कथाक्रम को घटा बढ़ा कर कहने के लिए वह स्वतन्त्र है। यदि वह किसी विदेशी कहानी को देशी आवरण में बालक के समक्ष उपस्थित करना चाहता है तो 'जोन' और 'मेरी' के स्थान पर 'मोहन' और 'कमला' तथा 'वाशिंगटन, और 'लीड्स' के स्थान पर 'दिल्ली' और 'कानपुर' का नाम रख लेना उचित ही नहीं आवश्यक भी है।

कहानी कहने में भाषा के स्तर तथा उसकी प्रभावोत्पादकता का ध्यान रखना भी कला का एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रारम्भिक कक्षाओं में बालकों का शब्द-ज्ञान अत्यन्त सीमित होता है। वे प्रायः पुस्तकों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के स्थान पर घरेलू भाषा के शब्द अपेक्षाकृत अधिक संख्या में जानते हैं और उनके माध्यम से अनेक ऐसी बातें वे सरलतापूर्वक समझ लेते हैं जो वे पुस्तक के शब्दों द्वारा विलम्ब से समझते। कहानी का वांछित प्रभाव पड़ने के लिए तुरन्त समझ में आना प्रथमतः आवश्यक है। अतएव प्रारम्भिक कक्षाओं की कहानियों की भाषा में कुछ घरेलू अथवा अति प्रचलित शब्दों का सहारा लेकर अध्यापक वांछित भाव बालक के हृदय तक पहुंचाने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ हो सकता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह कहानी की भाषा को शत प्रतिशत घरेलू शब्दों से भर दे—क्योंकि ऐसा करने से बालक के भाषा

सम्बन्धी ज्ञानार्जन की प्रगति में विघ्न उत्पन्न होने लगेगा। अतएव कक्षा-स्तर को ध्यान में रखकर क्रमशः उन्नत कोटि के शब्दों, लोकोक्तियों आदि का प्रयोग करना चाहिए किन्तु किसी भी स्थिति में इनके द्वारा कहानी में नीरसता उत्पन्न हो ने देना उचित नहीं।

पीछे कहा जा चुका है कि कहानी सुनने का लक्ष्य केवल शिक्षा देना नहीं है —वरन् मनोरंजक खेल द्वारा (क्योंकि कहानियाँ वस्तुतः बालकों के मस्तिष्क के लिए मनोरंजनात्मक खेल मात्र ही हैं) शिक्षा देना है। आवश्यकता से अधिक विनोद होने पर शिक्षा सम्भव न हो सकेगी और यथेष्ट से अधिक शिक्षाप्रद बनाने का ध्यान रखने से सुगमतापूर्वक ग्राह्य करा सकना कठिन हो जायगा। अतः इन दोनों की सीमाओं को दृष्टि में रखना अध्यापक का कर्तव्य होगा। साधारणतः किसी के तथा विशेषतः कक्षा तथा विद्यालय के किसी व्यक्ति या समूह को लक्ष्य करके कोई व्यंग कसना या घृणादि के भाव उत्पन्न करना अनुचित है। हाँ, कुछ ऊँची कक्षाओं के बालकों के समक्ष सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक सुधारों की दृष्टि से ऐसे व्यंगादि कुछ अवस्थाओं में लाभ प्रद सिद्ध हो सकते हैं। देश, जाति, वर्ग या समुदाय से सम्बन्धित आक्षेपों को कहानी से यथासम्भव दूर रखना ही श्रेयस्कर है।

कक्षा की योग्यता के अनुकूल होने के साथ ही कहानियों को देश-काल तथा जीवन की आवश्यकताओं के अनुकूल होना भी अनिवार्य है। उनमें शब्द, भाषा, भाव, रस आदि से सम्बन्धित साहित्यिक गुणों का क्रमशः समावेश होते जाना उनकी शिक्षण-सम्बन्धी उपादेयता में साधक होता है।

२—<u>कहानी कहलाना</u>—अध्यापक द्वारा कही हुई कहानियाँ बालकों को किस सीमा तक प्रभावित कर सकी हैं—इसका पता चलाते रहना भी आवश्यक है। यह इसलिए नहीं कि अध्यापक

अपनी कला में किस सीमा तक सफल हुआ है वरन इसलिए कि बालक वांछित उद्देश्यों से प्रभावित हुए हैं अथवा नहीं और यदि हुए हैं तो किस सीमा तक। उनकी भाव व्यक्त कर सकने की शक्ति उस कहानी को उतने ही न्यूनाधिक भावों द्वारा कक्षा के बालकों में रस का संचार तथा अभिव्यक्ति का प्रोत्साहन कर सकती है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रारम्भिक कक्षा के बालकों में से यथासम्भव सम्पूर्ण कहानी तो क्या कहानी का कोई बड़ा अंश भी एक व्यक्ति से न कहलाया जाय अन्यथा उसके साहस को तो धक्का लगता ही है कक्षा के अनेक अन्य बालकों को आवश्यकता से कम प्रोत्साहन मिल पाता है। इससे उनमें अभिव्यक्ति सम्बन्धी योग्यता का व्यक्तिगत अन्तर उत्पन्न होने लगता है जो सम्पूर्ण कक्षा के लिए अन्ततोगत्वा हानिकर सिद्ध होता है।

छोटे बालकों से छोटे-छोटे प्रश्नों द्वारा प्रथमतः कहानी के सबसे प्रधान अंगो पर प्रकाश डलवाना चाहिए। क्रमशः साधारण बातें भी पूछी जायँ और जब सम्पूर्ण कहानी उनके उत्तरों के योग से तैयार हो जाय तो उसका संक्षिप्त रूप भी कुछ प्रधान भागों में बाँटकर नए प्रश्नों द्वारा (यदि आवश्यक हो तो पुराने प्रश्नों की भाषा परिवर्त्तित करके) उनसे नः कहलाना चाहिए। यदि कहानी बहुत छोटी हो तो ऐसा करने से नीरसता उत्पन्न होगी। अतः बचे हुए समय में बालकों को उसी प्रकार की या उससे कुछ भिन्न प्रकार की किन्तु छोटी कहानी कहने को प्रोत्साहित करना चाहिए। बालक द्वारा कही हुई कहानी को भी विभिन्न प्रश्नों द्वार कक्षा के अन्य बालकों से कहलाना आवश्यक है।

चित्रों द्वारा कहानी के महत्वपूर्ण अंगों का स्पष्टीकरण करते जाना समुचित प्रभाव डालने में सहायक होता है।

किसी-किसी कहानी को (विशेषतः ऐतिहासिक) कह लेने के

पश्चात् कक्षाभिनय द्वारा उसकी पुनरावृत्ति करा देना विशेष लाभ-दायक सिद्ध होता है। जिन कहानियों में संवाद अधिक हों उनमें तो ऐसा करना आवश्यक है।

कुछ आगे की कक्षाओं में चल कर बालकों से कहानी कहलाते समय शब्दों, लोकोक्तियों आदि के समुचित प्रयोग पर ध्यान देना चाहिए और बड़ी कहानी को अति संक्षिप्त रूप में कहलाने का अभ्यास भी कराना चाहिए।

उच्च कक्षाओं (९–१०) में कभी-कभी अधूरी कहानी कहकर उनका आकर्षण बढ़ा देने के पश्चात् बालकों से पुनः कहलाने के स्थान पर उन्हें द्रुतपाठ की उस पुस्तक का नाम बता दिया जाय जिसमें से कहानी का वह अंश कहा जा चुका है और बालक स्वयं शेषांश पढ़ कर दूसरे दिन संक्षिप्त रूप में सुनावें तो अधिक लाभ होता है।

इसी प्रकार उच्चतर कक्षाओं (११–१२) में कहानी कहने के स्थान पर अध्यापक को चाहिए कि कुछ आकर्षक अंशों के वर्णनों द्वारा बालक को श्रेष्ठ साहित्यिक, ऐतिहासिक, नैतिक तथा सामाजिक कहानियों की पुस्तकें पुस्तकालयों से लेकर पढ़ने के लिए उत्साहित कर दे—यह उनके भाषा-सम्बन्धी विकास में बड़ा सहायक सिद्ध होगा।

छात्रों की व्यक्तिगत योग्यता तथा उनके झुकाव को ध्यान में रखकर भी उन्हें विभिन्न प्रकार की कहानियाँ पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

३—<u>कहानी लिखवाना</u>—'यह ध्यान देने की बात है कि कहानी या उसका कोई अंश लिपिवद्ध करने में बालक को जितना सोचना और प्रयत्न करना पड़ता है उससे बहुत कम प्रयत्न उसकी मौखिक अभिव्यक्ति में लगता है। यही कारण है कि दोहरे प्रयास द्वारा अधिक सफलता प्राप्त करने के लिए उससे कहानी लिखाना आवश्यक है।

छोटी कक्षाओं में छोटी से छोटी कहानी भी पूर्ण रूप में लिखने को न कहना चाहिए। उचित यह है कि कल या निकटभूत में सुनी कहानी या कहानियों को आज संक्षेप में बालकों से लिखवाने के लिये कुछ प्रश्न श्यामपट पर लिख दिये जायँ और बालक उन प्रश्नों के उत्तर अपनी अभ्यास-पुस्तिका में लिखें। अध्यापक निरीक्षण करता रहे। यह कार्य कक्षा में ही कराना इस दृष्टि से लाभदायक है कि छोटे बालक सम्पूर्ण कहानी को लिखने में ऊब जाते हैं—और घर पर यह कार्य कर सकना उनके लिए सम्भव नहीं है।

माध्यमिक कक्षाओं में अध्यापक से सुनी कहानी को बालकों से संक्षिप्त रूप में घर से लिखकर लाने के लिए कहा जा सकता है।

उच्चतर कक्षाओं में कहानी सुनाए बिना ही (कोई अंश सुनाने या पुस्तक से कहानी का नाम बता देने पर ही) उसे संक्षिप्त रूप में लिखकर लाने को कहा जा सकता है। इतना ही नहीं किसी कहानी के विभिन्न अंगों की लिखित समीक्षा उपस्थित करने को भी कहना चाहिये किन्तु ऐसी समीक्षा लिखवाने से पहिले विद्यार्थियों के सह-योग से उसी प्रकार की किसी दूसरी कहानी की समीक्षा करके उस ओर उन्हें प्रोत्साहित कर देना आवश्यक है।

यह तो हुई कहानियों की बात। किन्तु वस्तुतः द्रुत पाठ में केवल कहानियाँ हीं तो नहीं होतीं। साहित्य, विज्ञान, तथा विभिन्न सामा-जिक विचारधाराओं के निबन्ध, लेख तथा अनेक अन्य सामग्रियाँ भी द्रुत पाठ के ही अन्तर्गत हैं। अतएव इन सबकी ओर विद्यार्थियों को उचित समय से प्रोत्साहित कर देना अध्यापक का कर्तव्य है। सारांश-कथन, निबन्ध लेखन, भाषण, वाद-विवाद आदि प्रतियो-गिताओं में भाग लेने का उचित अवसर देने तथा अपने विचारों को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करते रहने के उत्तम साधन उपस्थित करते रहने से ही अधिक लाभ हो सकता है। इसके लिए उन्हें रचना-

शिक्षण में उपस्थित किये गये सुझावों (१०–१६ पृष्ठ १६२–६३) के अनुकूल कार्य करना चाहिए।

द्रुत पाठ की शिक्षा में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहानियों अथवा निबन्धादि का व्यक्त अथवा सस्वर पाठ कराने की आवश्यकता नहीं है। यह पीछे कहा जा चुका है कि आज-कल द्रुत पाठ कक्षा ६ से प्रारम्भ किया जाता है। अतएव कुछ लोगों का विचार है कि कक्षा ६–७ तक सस्वर पाठ द्वारा कक्षा में द्रुत पाठ पढ़ाना चाहिए। किन्तु कठिनाई यह है कि साधारणतः भाषा-शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्य-पुस्तक के गद्य-पद्य के पाठों को पढ़ाने से इतना समय नहीं बच पाता कि द्रुत पाठ भी कक्षा में एक के पश्चात् दूसरे बालक द्वारा व्यक्त रूप से पढ़ाकर समझाया या सुनाया जा सके। इसके अतिरिक्त द्रुत पाठ में इतनी अधिक समझाने योग्य कोई विशेष बात भी अधिक नहीं होती। जो कुछ होती भी है उसपर मौन पठन के पश्चात् विद्यार्थी तथा अध्यापक के विचार-विनियम तथा सहयोगपूर्ण समीक्षा से सरलता और शीघ्रता-पूर्वक स्पष्ट हो जाती है। अतएव मेरी दृष्टि में द्रुत पाठ में व्यक्त रूप से पढ़ने की आवश्यकता नगण्य है अन्यथा वह भी साधारण गद्य का पाठ हो जायगा। यहाँ तक कि इन द्रुत पाठों का अप्रत्यक्ष रूप आप-बीती तथा कथा-कहानी के सांचे में जब हम छोटी कक्षाओं के बालकों के समक्ष उपस्थित करते हैं तो वहाँ भी इसके सस्वर पाठ की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि इस सम्बन्ध में उनके पास कोई पुस्तक निर्धारित नहीं होती—यह सब कुछ अध्यापक और अध्येता के मस्तिष्क तथा हृदय से ही उपजता और उसी में विलीन होता रहता है। जब छोटी कक्षाओं में ही इन अप्रत्यक्ष द्रुत पाठों को सस्वर पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती तो माध्यमिक या उच्च कक्षाओं में चलकर यह कार्य करने लगना क्यों आवश्यक होगा यह समझ में नहीं आता।

समय की बचत तथा विद्यार्थियों के मस्तिष्क को सक्रिय रखने के लिए कक्षा में पाठ को यथासंभव संक्षिप्त रूप देना ही उचित है, जिससे उसके वृहत्तर रूप को विद्यार्थी घर पर पढ़कर भी समझने का यत्न करें।

जिस प्रकार भी सम्भव हो लेखों की एक पूरी विचारधारा या कहानी का अपने में ही पूर्ण कोई अंश एक ही घण्टे में समाप्त कर देना चाहिए।

सम्बाद-पूर्ण पाठों में विभिन्न पात्रों के नामादि से प्रारंभ में ही परिचय करा दिया जा सकता है।

प्रस्तावना में विगत अपूर्ण पाठ के अन्तिम अंश को भावी पाठ के प्रारंम्भिक अंश से इस प्रकार सम्बन्धित करना चाहिए कि विद्यार्थियों को कथा अथवा विचारों का तारतम्य स्थापित करने में यथोचित सुविधा मिले। माध्यमिक कक्षाओं में पूरी कहानी या लेख के बड़े अंश को यथासम्भव दो तीन समानांशों में बाँट कर मौन पठन कराना तथा बीच बीच में बोध-परीक्षा तथा कुछ विशेष बातों पर प्रकाश डालते जाना आवश्यक है।

उच्चतर कक्षाओं में एक ही बार या अधिक से अधिक दो बार में पढ़ा देना चाहि। जिससे समीक्षा करने में भी सुविधा हो। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी अधिक बातों को ग्रहण कर सकते तथा अधिक देर तक ध्यान को स्थायी रख सकते हैं। अतः द्रुत पाठ में उनकी गति को तीव्रतर रखने तथा ग्रहण-शक्ति को दृढ़तर बनाने के लिए अनेक अंशों में बाँटकर बढ़ाना बाधक होता है।

अन्त में पूरे विषय का संक्षिप्त रूप कुछ प्रश्नों द्वारा निकलवा लेना तथा पुनः उस सम्बन्ध में कुछ लिखकर लाने के लिए कहना आवश्यक है।

नाटक-शिक्षा-विधि

यह पीछे कहा जा चुका है कि गद्य-शिक्षा के कुछ साधारण उद्देश्य हैं किन्तु गद्य के विभिन्न प्रकारों के कारण कुछ विशेष उद्देश्य भी हैं। जैसे कहानी तथा द्रुतपाठ के सम्बन्ध में अभी देखा गया। इसी प्रकार नाटक-शिक्षा में गद्य-शिक्षा के उद्देश्यों के अतिरिक्त कुछ मुख्य उद्देश्य भी हैं:—

देश, काल, पात्र तथा परिस्थिति के अनुकूल शीघ्र सफल होने के निमित्त व्यवहार कुशल बनाना। नाटकों में मानव-जीवन की विषमताओं तथा आवश्यकताओं की ही चर्चा होती है—उनके सहारे बालक को यह सोचने का अवसर मिलता है कि 'जब दूसरों के सम्मुख अमुक प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई तो उन्होंने कौन ऐसा कार्य किया जिससे उनको सफलता मिली। क्या वह कार्य उसके लिये भी कर सकना सम्भव है—यदि हाँ, तो वह वैसा ही करके योग्य पुरुष क्यों न बने।'

इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के मनुष्यों का मनोवैज्ञानिक तथा चारित्रिक अध्ययन करके वे दूध को दूध और पानी को पानी समझने में निपुण हो जाते हैं। व्यवहार-कुशलता के साथ ही ऊँचे आदर्शों के अनुकूल जीवन को गतिशील बनाने की शिक्षा भी बालक नाटकों द्वारा प्राप्त करते रहते हैं।

अतएव नाटक-शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं:—

१—परिस्थिति के अनुकूल सोचने तथा कार्य कर सकने की क्षमता उत्पन्न करना।

२—प्रकारान्तर से विभिन्न व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक तथा चारित्रिक अध्ययन करना।

३—बालक को व्यवहार कुशल बनाने के साथ ही आदर्शों के अनुकरण की ओर आकर्षित करना।

४—संकोच रहित भावाभिव्यक्ति की वृद्धि तथा वक्तृता आदि कलाओं द्वारा आदरणीय बनने की क्षमता उत्पन्न करना।

नाटक-शिक्षा-प्रणाली—नाटक-शिक्षा की अनेक प्रणालियाँ हैं:—

१—व्याख्या-प्रणाली—इस प्रणाली द्वारा नाटक के विभिन्न पात्रों के चरित्रों, सम्पूर्ण कथानक की योजना, विभिन्न घटनाओं की उपयोगिता, भाषा-शक्ति की प्रचुरता, देशकाल की अनुकूलता आदि विभिन्न विषयों पर कक्षा में विश्लेषण और समीक्षा द्वारा प्रकाश डाला जाता है जिससे विद्यार्थी नाटक के गुण-दोष आदि समझने में सफल हो सकें। यह प्रणाली प्राचीन है तथा केवल उच्च कक्षाओं में प्रयोग में लाने योग्य है। यह प्रणाली बेसिक तथा माध्यमिक कक्षाओं के लिये व्यर्थ है।

२—प्रयोग-प्रणाली—इस प्रणाली के दो रूप हैं—(१) रंगमंच अभिनय प्रणाली—जिसमें यथासम्भव नाटक को उसके पूर्ण रूप में रंगमंच पर उपस्थित किया जाता है। (२) कक्षाभिनय-प्रणाली—जिसमें नाटक के विभिन्न पात्रों के कार्य कक्षा के विभिन्न बालकों में बाँट दिये जाते हैं और आवश्यकता के अनुकूल वे स्वयं अभिनय द्वारा सारी स्थितियों तथा घटनाओं और रहस्यों का अध्ययन करने में सफलता प्राप्त करते हैं। इनमें पहिली तो भारत जैसे कंगाल देश के लिए कम सम्भव है—केवल थियोसाफिकल सोसायटी तथा बिड़ला-ट्रस्ट के कुछ स्कूलों में यह अधिक काम में लाई जाती है। साधारण स्कूलों में भी वर्षमें एक, दो बार इसके द्वारा बालकों को

शिक्षा देना असम्भव नहीं है। साधारणतः इसमें धन की बड़ी बाधाएँ हैं। किन्तु दूसरी प्रणाली अत्यधिक उपयोगी है क्योंकि इसके द्वारा शिक्षा दे सकना व्यय-साध्य न होने के साथ ही सरल है और इसमें कम समय की आवश्यकता पड़ती है।

३—आदर्श नाट्य-प्रणाली—इस प्रणाली में अध्यापक ही कक्षा के सामने स्वयं पाठ तथा अभिनय द्वारा नाटक की कथा-वस्तु, भाव व्यञ्जना, चरित्रों की विशेषता और भाषा की प्रगुणता को उपस्थित करता है। इस विधि से बालकों का मनोरंजन अधिक होता है किन्तु शिक्षा-सम्बन्धी लाभ कम क्योंकि इस दशा में वे निष्क्रय श्रोता तथा द्रष्टा बन जाते हैं। स्वयं सक्रय न होने से उनको उचित लाभ नहीं होता। आज के नवीन शिक्षण-सिद्धान्तों को देखते हुए इस प्रणाली का केवल आंशिक प्रयोग करना लाभप्रद हो सकता है।

सर्वमान्य विधि—विशेषरूप से उत्तम प्रणाली वही है जिसमें अध्यापक कुछ विशेष बातों को आदर्श अभिनय द्वारा कक्षा के सामने उपस्थित करके शेष को (तथा पुनः उसको भी) कक्षाभिनय द्वारा पूरा करावे। अध्यापक का यह अभिनय भावुकता तथा सात्विकता से पूर्ण होना चाहिए। अंग-संचालन यथासम्भव कम हो। किन्तु सभी भाव स्पष्ट तया अनुकरण के लिए सरल बन जायँ। इसका ध्यान रखना चाहिए कि नाटक का एक अंग या उपांग (अंक या दृष्य) एक घण्टे में समाप्त कर दिया जाय जिससे दूसरे दिन भी पाठ प्रारम्भ करने तथा बालक को एक पूरी बात मस्तिष्क में व्यवस्थित करने में सुविधा हो। उन्नत माध्यमिक तथा उच्चतर कक्षाओं में नाटककार का थोड़ा परिचय पहिले दिन ही (पाठ प्रारम्भ करने से पहिले ही) देना लाभप्रद है।

नाटक-शिक्षा के पूर्वकथित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर पाठ

के आवश्यक अंगों पर जोर देते चलना तथा आवृत्ति के समय उन्नत माध्यमिक कक्षाओं में कथानक की मार्मिकता, नायकों के चरित्र, परिस्थितियों की विशेषता आदि विषयों पर तथा उच्चतर कक्षाओं में घटताओं तथा वार्त्तालाप के गुण-दोष, विभिन्न सामाजिक वातावरणों से समन्वय, पात्रों के प्रश्नोत्तरों की गम्भीरता परिस्थिति विशेष में कार्य विशेष की उपयोगिता, व्यवहारिकता, आदर्श-प्रियता तथा चरित्र-चित्रण के सौन्दर्य और भाषा की सशक्तता अथवा शक्तिहीनता आदि से सम्बन्धित प्रश्न पूछ कर उनकी अनुभूतियों की थाह लगा लेनी चाहिए।

कुछ इसीप्रकार के विस्तृत उत्तरों वाले प्रश्नों को घर से हल करके लाने के लिए भी दे देना अत्यन्त उपयोगी है।

नाटक में आये कठिन गद्यांशों तथा कठिन और लम्बे गीतों का उचित बोध कराने के लिए गद्य-शिक्षा-विधि तथा पद्य-शिक्षा-विधि का सहारा लेना चाहिए।

विद्यार्थी को नाटकों तथा नाटकीय ढङ्ग से लिखी हुई कहानियों, उपन्यासों तथा अन्यान्य साहित्यिक पुस्तकों से रस का सफलतापूर्वक आस्वादन कर सकने योग्य बनाने के लिए भाषा के बल, अभिव्यक्ति की कला, वर्णन शैली की सरसता आदि की ओर आकर्षित करते रहना तथा साहित्यिक पुस्तकों द्वारा यथासम्भव उनकी सहायता करते रहना अध्यापक का परम कर्तव्य है।

उनमें समीक्षा-शक्ति की वृद्धि करने के लिए अध्यापक को उसे विचार-विनिमय का अवसर देना चाहिए।

व्याकरण की शिक्षा

व्याकरण-शिक्षा की आवश्यकता—व्याकरण की शिक्षा की चर्चा करने से पहिले एक प्रश्न सामने आता है—क्या व्याकरण

पढ़ाना आवश्यक है ? कुछ विद्वानों का कहना है कि भाषा के सम्यक ज्ञान के लिए व्याकरण की शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे कहते हैं कि बिना व्याकरण, भाषा की उचित शिक्षा देना सम्भव नहीं है अथवा व्यर्थ है। एक ने व्याकरण की उपयोगिता को तिल बना दिया दूसरे ने ताड़, एक ने कौड़ी और दूसरे ने मुहर। अतएव इन दोनों प्रकार के विचारकों को उचित सम्मान नहीं मिला।

कुछ तीसरे प्रकार के विद्वानों का कहना है कि भाषा की शिक्षा में व्याकरण की वैसी ही आवश्यकता है जैसी हाथी पर चढ़ने के लिए किसी प्रकार के अंकुश की (भाला, बर्छी आदि)। उनका कहना यह है कि व्याकरण की शिक्षा भाषा को अनुशासित रखने में सहायता पहुँचाने के निमित्त है। अवश्य ही अंकुश के बिना भी अच्छी प्रकार अनुशासित हाथी पर सवारी की जा सकती है किन्तु अंकुश को पास रखना हाथी के अनुशासन से बाहर जाने के समय आवश्यक है—उसकी उपयोगिता का पता वहीं पर चलता है। यदि पहिले से ही अंकुश उपस्थित न हो तो यह कठिनाई उपस्थित हो जायगी कि अमुक अवस्था में क्या करना चाहिए—वैसी ही अवस्था में पड़ने पर हमसे पूर्व के व्यक्तियों के क्या अनुभव हैं—आदि। ठीक यही स्थिति भाषा और व्याकरण की है। व्याकरण के बिना भी भाषा सीखी, समझी और पूर्णरूप से शुद्ध प्रयोग में लाई जा सकती है। किन्तु जब इन प्रयोगों के सम्बन्ध में कोई शंका या भ्रम उत्पन्न हो जायगा वहाँ क्या किया जायगा। वहाँ यही देखना होगा कि वैसी ही परिस्थितियों में हमारे पूर्व के लोगों की क्या अनुभूति है अथवा उनके क्या विचार हैं—वे किस प्रकार के प्रयोग को उचित समझते रहे हैं आदि—यही तो व्याकरण है। व्याकरण भाषा का शासक या नियामक नहीं है—पूर्व प्रयोगों के

अनुचित अध्ययन द्वारा भाषा में उपस्थित प्रवृत्तियों का एकत्री करण ही व्याकरण कहलाता है। अतएव व्याकरण की शिक्षा इस दृष्टि से आवश्यक है कि भाषा का शिक्षार्थी जहाँ प्रयोग सम्बन्धी किसी कठिनाई में पड़ जाय वहाँ सुविधा पूर्वक उसे यह समझ में आ सके कि किन रूपों में कौन प्रयोग अधिक प्रचलित हैं, जिनके अनुकूल चलना उचित माना जाय।

यह तीसरा मत ही समीचीन है। अपनी उचित अभिव्यक्ति तथा दूसरे की बातों को ठीक प्रकार से समझ सकने में व्याकरण सहायक अवश्य होता है किन्तु जिस प्रकार आज तक (या आज से पहिले भी) व्याकरण पढ़ाया जाता रहा है उसे देखकर यही कहना ठीक होगा कि व्याकरण की शिक्षा व्यर्थ ही नहीं हानि कारक भी है।

व्याकरण का विद्यार्थी (जो दुर्भाग्य-वश व्याकरणाचार्य होने जा रहा है—भाषाचार्य नहीं) भाषा के ज्ञान की अनुपस्थिति में ही पहिले व्याकरण के नियम "......लघु सिद्धान्त कौमुदीम्" रटता फिरता है। भाषा का बोलना, लिखना समझना सब दूर रहा अभी वे उन सूत्रों को रट रहे हैं जिनके अर्थ वे ८–१० वर्षों के पश्चात् समझ सकेंगे। इस सुग्गा-प्रणाली का प्रयोग भारत में नहीं पाश्चात्य देशों में भी ग्रीक तथा लैटिन आदि की शिक्षा में होता रहा है। फरवरी १६५१ में मेरे एक छात्राध्यापक (रा. दीक्षालय बनारस) के सम्पर्क से दूसरे स्थान के एक छात्राध्यापक ने आकर मुझसे कहा 'श्रीमान् जी, क्या व्याकरण की शिक्षा दिये बिना भी भाषा की शिक्षा दी जा सकती है ? मैंने कहा "व्याकरण की शिक्षा दिये बिना ही भाषा की शिक्षा देना उचित है अन्यथा नहीं। हाँ, भाषा की शिक्षा के बिना व्याकरण की शिक्षा देना अवश्य अनुचित और हाकिकर है।" वह यह कहता हुआ चला गया कि मैं संस्कृत और

?नः धर्म का विरोधी हूँ। इसी जिह्वा-साँसति से थक कर एक पाश्चात्य विद्यार्थी (तत्पश्चात् विद्वान्) ने यह सिद्ध करने के लिए एक ग्रन्थ लिख डाला कि व्याकरण की शिक्षा देना व्यर्थ है क्योंकि संसार में जो कुछ है वह किसी न किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, गुण, दशा, व्यापार, कार्य आदि का नाम ही तो है। (एव्री वर्ड इज़ नाउन) जब प्रत्येक शब्द संज्ञा ही है तो व्याकरण में शेष क्या रहा।

कहने का तात्पर्य यह कि व्याकरण की त्रुटि-पूर्ण शिक्षा-विधि ने ही उसकी अनुपयोगिता की ओर लोगों को झुकाया—यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से व्याकरण की शिक्षा दी जाय और बालकोंके अनुभवों तथा ज्ञान के आधार पर उन्हीं द्वारा सिद्धान्त बनवाये जायँ तो कोई कारण नहीं है कि वह लाभप्रद क्यों न हो।

व्याकरण-शिक्षा के सिद्धान्त—इस प्रकार व्याकरण-शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त हो गये:—

१—अव्याकृति सिद्धान्त—भाषा की शिक्षा के निमित्त व्याकरण-शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है।

२—व्याकरणातिरेक सिद्धान्त—बिना व्याकरण पढ़ाये भाषा की शिक्षा ही न देनी चाहिए।

३—सहयोग-सिद्धान्त—यथावश्यक भाषा में रचना-शिक्षण के साथ ही व्याकरण की आवश्यक शिक्षा देते चलना भी उचित और लाभप्रद है।

तीसरा सिद्धान्त ही आजकल अधिक मान्य है।

व्याकरण-शिक्षा-पद्धति—व्याकरण की शिक्षा देने के लिए भी अनेक पद्धतियों का सहारा लिया जाता है। कुछ विद्वान तो व्याकरण-शिक्षा के उक्त विभिन्न सिद्धान्तों को भी व्याकरण-शिक्षा पद्धतियों में गिनते हैं। मेरी दृष्टि में निम्नलिखित पद्धतियों द्वारा ही प्रायः व्याकरण की शिक्षा दी जाती है:—

१—सूत्र-पद्धति।

२—पाठ्य पुस्तक-पद्धति।

३—प्रयोग-पद्धति।

१ सूत्र-पद्धति—यह पूर्व कथित 'लघुसिद्धान्त कौमुदीम्' की पद्धति है जिसमें बालक को व्याकरण के भिन्न भिन्न नियम अनेक सूत्रों के रूप में उन सूत्रों में प्रयुक्त भाषा का ज्ञान होने से वर्षों पहिले रटा दिये जाते हैं उदाहरण देकर उनकी उपयोगिता बता दी जाती है। संस्कृत भाषा के दुर्भाग्य से उसके विद्वानों ने कोई अन्य सुगम रास्ता न निकाला।

इस सूत्र-पद्धति का अंशानुकरण हिन्दी के कतिपय अध्यापकों ने भी किया। अंशानुकरण कहने का कारण यह है कि जहाँ संस्कृत के छात्र बिना समझे उसे रट लेते थे वहाँ हिन्दी के छात्र कम से कम भाषा समझते हुए रटते थे क्यों कि हिन्दी के सूत्र उनकी बोल चाल की भाषा में ही थे। इसके अतिरिक्त हिन्दी में नियमों के स्थान पर व्याकरण के विभिन्न विभागों के भेदों (विभिन्न नामों) को स्मरण रखने के लिए विशेषरूप से कुछ सूत्र बना लिए गये, जिससे उन भेदों के कुछ नाम रट कर बालक परीक्षाएं पास कर सकें। १६२६ में (मिडिल स्कूल-शिक्षा काल में) मेरे विद्वान गुरु श्री रामनारायण सिंह (महाशय जी) ने इस प्रकार के नामों के सम्बन्ध में अनेक सूत्र रटाये थे जो उदाहरणार्थ यहां दिये जाते हैं:—

१—संज्ञा तीन प्रकार की, जाति. व्यक्ति, अरु भाव।
बाचक शब्द लगायकर, तीनों भेद बनाव॥

२—पुरुष, प्रश्न, सम्बन्ध, निज, निश्चय, अनिश्चय, जान।
बाचक शब्द लगायकर, सर्वनाम पहिचान॥

३—क्रिया, व्यक्ति, संकेत, गुण, संख्या अरु परिमान।
बाचक शब्द लगाय कर, छओ विशेषण जान॥ आदि

इसमें सन्देह नहीं कि उक्त गुरु की कृपा से मैं अब भी व्याकरण की वे अनेक बातें एक क्षण में बता दे सकता है जिनकी जानकारी के लिए लोग घन्टों व्याकरण के पृष्ठ उलटते रहेंगे—किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं इस विधि को आज भी ग्राह्य समझता हूँ।

इनकी पहिचान के सम्बन्ध में भी अनेक पद्यात्मक सूत्र उन्होंने बताये थे किन्तु उन सबकी चर्चा एक स्वतंत्र विषय है। यहाँ मेरा तात्पर्य केवल यह है कि हिन्दी में आकर संस्कृत की यह सूत्र-प्रणाली अमनोवैज्ञानिक होते हुए भी उतनी हानिकर नहीं रह गई जितनी मूल रूप में थी। तथापि यह व्याकरण-शिक्षा के लिए उत्तम विधि नहीं है—विशेषतः आज के मनोवैज्ञानिक युग में यह विधि प्राचीन हो चुकी है।

२ पाठ्य-पुस्तक पद्धति—यह पद्धति उक्त पद्धति से बहुत दूर नहीं गई। इसमें व्याकरण-शिक्षा के लिए पाठ्य-पुस्तक का सहारा लिया जाता है। यह अंग्रेजी-शिक्षा-विधि की देन है। आंग्ल भाषा की तरह हिन्दी में भी व्याकरण की पुस्तक निर्धारित कर दी जाती है जिसमें, विभिन्न, परिभाषाएं, नियम, उदाहरण आदि दिए रहते हैं—उन्हें अध्यापक बालकों को रटा देते हैं। पुनः गद्य-शिक्षा के समय उनके उस ज्ञान को प्रयोग में लाने का कठिन प्रयास छड़ी के सहारे किया जाता है यह विधि भी अत्यन्त जीर्ण हो चुकी है और मनोविज्ञान के इस युग में चलने योग्य नहीं है।

३ प्रयोगपद्धति—इस विधि की यह विशेषता है कि व्याकरण की जो शिक्षा बालकों को देना चाहते हैं अथवा जो सिद्धान्त हम उनके सामने उपस्थित करना चाहते हैं, उसे अपनी ओर से उसके सिर पर न लाद कर विद्यार्थी द्वारा ही निकलवा कर उसकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति करवाते हैं। इस कार्य के लिये हम उसके सामने अनेक उदाहरण उपस्थित करते हैं। यह ध्यान रखते हैं कि उस

सिद्धान्त में उत्पन्न होने वाली जितनी शंकायें हैं, उन सबसे सम्बन्धित एकाध उदाहरण उस समूह में अवश्य उपस्थित हों— मान लीजिये हम विद्यार्थी से यह सिद्धान्त निकलवाना चाहते हैं कि 'जब वाक्य में कर्त्ता, और कर्म के चिन्ह 'ने' और 'को' दोनों उपस्थित होते हैं, तब क्रिया सर्वदा पुलिङ्ग और एक वचन होती है। इस सम्बन्ध में हम निम्नाङ्कित उदाहरण देंगे:—

१—राम ने पत्र को पढ़ा।
२—सीता ने पत्र को पढ़ा।
३—राम ने पुस्तक को पढ़ा।
४—सीता ने पुस्तक को पढ़ा।
५—बालकों ने पत्र को पढ़ा।
६—बालक ने पत्रों को पढ़ा।
७—बालकों ने पत्रों को पढ़ा।
८—बालिकाओं ने पत्र को पढ़ा।
९—बालिका ने पत्रों को पढ़ा।
१०—बालिकाओं ने पत्रों को पढ़ा।
११—बालकों ने पुस्तक को पढ़ा।
१२—बालक ने पुस्तक को पढ़ा।
१३—बालकों ने पुस्तकों को पढ़ा।
१४—बालिकाओं ने पुस्तक को पढ़ा।
१५—बालिका ने पुस्तकों को पढ़ा।
१६—बालिकाओं ने पुस्तकों को पढ़ा।

विद्यार्थियों से श्यामपट पर लिखे गये इन वाक्यों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करने के लिए कहा जायगा। क्रमशः भिन्न-भिन्न विद्यार्थियों से इन वाक्यों के कर्त्ता और कर्म (तथा उनके चिन्ह) ढूँढ़ने को कहा जायगा। तत्पश्चात् पहिले वाक्य की क्रिया के लिंग

और वचन के विषय में प्रश्न किये जायँगे। जब बालक उत्तर में उसे पुल्लिङ्ग और एक वचन बता देंगे तो उनसे उसी वाक्य के कर्त्ता और कर्म (क्रमशः राम और पत्र) के लिङ्ग और वचन पूछे जायँगे। उनको पुल्लिङ्ग और एक वचन बता देने के पश्चात उन्हीं की भाषा में पहिले वाक्य के सामने श्यामपट पर लिख दिया जायगा कि प्रथम वाक्य में कर्त्ता और कर्म के चिन्ह उपस्थित हैं, कर्त्ता और कर्म दोनों पुल्लिङ्ग, एक वचन है तथा क्रिया भी पुलिङ्ग और एक वचन है'। इसी प्रकार दूसरे वाक्य के विषय में प्रश्न करने के पश्चात् यह लिख दिया जायगा कि 'इस वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिन्ह उपस्थित हैं, कर्त्ता स्त्री लिङ्ग, एक वचन है और कर्म पुल्लिङ्ग, एक वचन है तथा क्रिया भी पुल्लिङ्ग एक वचन हैं। क्रमशः तीसरे वाक्य के सामने लिखा जायगा कि 'इस वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिन्ह उपस्थित हैं, कर्ता पुल्लिङ्ग, एक वचन है, कर्म स्त्री लिङ्ग एक वचन है तथा क्रिया एक वचन, पुल्लिङ्ग है। चौथे वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता, कर्म दोनों के चिन्ह उपस्थित हैं; कर्त्ता और कर्म दोनों स्त्री लिङ्ग एक वचन हैं तथा क्रिया पुलिङ्ग एक वचन है'। पाँचवें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता और कर्म के दोनों के चिह्न उपस्थित हैं; कर्त्ता पुल्लिङ्ग बहुवचन है कर्म पुल्लिङ्ग एक वचन है तथा क्रिया पुल्लिङ्ग एक वचन है। छठें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता पुल्लिङ्ग एक वचन है कर्म पुल्लिङ्ग बहुवचन है तथा क्रिया पुल्लिंग एक वचन है'। सातवें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता कर्म के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता पुल्लिङ्ग बहुवचन है, कर्म भी पुल्लिङ्ग बहुवचन है किन्तु क्रिया पुल्लिङ्ग एक वचन है। आठवें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता और कर्म के चिह्न उपस्थित हैं; कर्त्ता स्त्री लिङ्ग बहुवचन है; कर्म

पुल्लिङ्ग एक वचन है तथा क्रिया पुल्लिङ्ग एक वचन है'। नव वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता स्त्री लिङ्ग एक वचन है; कर्म पुल्लिङ्ग बहुवचन है तथा क्रिया पुल्लिङ्ग एक वचन है'। दसवें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता स्त्री लिङ्ग बहुवचन है, कर्म पुल्लिग बहुवचन है तथा क्रिया पुल्लिङ्ग एक वचन है। ग्यारहवें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता पुल्लिङ्ग बहुवचन है, कर्म स्त्री लिङ्ग एक वचन है और क्रिया पुल्लिङ्ग एक वचन है। बारहवें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता, कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता पुल्लिङ्ग एक वचन है; कर्म स्त्री लिङ्ग बहुवचन है तथा क्रिया पुलिङ्ग एक वचन है'। तेरहवें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता-कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं; कर्त्ता पुल्लिङ्ग बहुवचन है कर्म स्त्री लिङ्ग बहुवचन है तथा क्रिया पुल्लिंग एक बचन है। चौदहवें वाक्य के सामने 'इस-वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता स्त्रीलिंग बहुबचन है कर्म स्त्रीलिंग एक बचन है तथा क्रिया पुलिंग एक बचन है। पन्द्रहवें वाक्य के सामने 'इसवाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता स्त्रीलिंग एक बचन है; कर्म स्त्रीलिंग बहु-बचन है तथा क्रिया पुल्लिंग एकवचन है। सोलहवें वाक्य के सामने 'इस वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं, कर्त्ता स्त्रीलिंग बहुबचन है; कर्म भी स्त्रीलिंग बहुवचन है तथा क्रिया पुल्लिंग एकबचन हैं।

अब विद्यार्थियों को कुछ समय तक इन वाक्यों तथा इनके सामने लिखी हुई विशेष बातों का भली प्रकार अध्ययन करके उनका अन्तर समझने के लिए कहा जायगा। पुनः यह प्रश्न किया जायगा—इन वाक्यों के सामने लिखी हुई विशेष बातों में कौन ऐसी बातें हैं जो सभी में उपस्थित हैं?

सबमें उपस्थित होने वाली बातों को एक साथ मिला लिया जायगा और उनकी विभिन्नताओं को छोड़ दिया जायगा। इस प्रकार जब विद्यार्थी समान स्थितियों के मेल से यह वाक्य प्राप्त करलें 'वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों के चिह्न उपस्थित हैं तथा क्रिया पुल्लिग, एक बचन है'। तब उनके सामने प्रत्येक वाक्य की भिन्न भिन्न दशा के साथ उक्त समान दशा की तुलना कराई जायगी और उन्हीं के वाक्यों द्वारा यह नियम स्वीकृत करवा दिया जायगा कि 'किसी वाक्य में कर्त्ता और कर्म की अनेक भिन्न भिन्न दशाएँ होते हुए भी यदि दोनों के चिह्न उपस्थित हों तो क्रिया सर्वदा पुल्लिग व एक वचन होगी।''

आज की शिक्षा में 'प्रयोग पद्धति का उपयोग गणित विज्ञान भूगोल आदि विषयों में भी भली प्रकार हो रहा है, व्याकरण तथा तर्क-शास्त्र आदि विषयों में विशेष रूप से किया जाता है। ध्यान केवल इस बात का रखना है कि जहाँ कोई नियम अथवा सिद्धान्त विद्यार्थी के समक्ष उपस्थित करना हो, वहीं इस विधि का प्रयोग ठीक होगा, अन्यत्र नहीं। ऊपर के उदाहरणों की इतनी बड़ी संख्या से यह स्पष्ट है कि इस विधि के प्रयोग में यदि उदाहरणों के संकलित करने में कोई ऐसी कमी की गई जिससे शंका का कोई भी अंश समाधान होने से शेष रह गया तो विद्यार्थी बताये गये सिद्धान्त को त्रुटि-पूर्ण समझ लेगा। इससे भीषण हानि यह होगी कि उस सिद्धान्त को शंका की दृष्टि से देखने के कारण अनेक ठीक प्रकार से समझे हुए अन्य सिद्धान्तों में भी उसे संदेह का आभास होने लगेगा। इसलिए इस बात की ओर सतर्क रहना अत्यन्त आवश्यक है कि इस विधि से कोई भी सिद्धान्त सिखाते समय शंका के प्रत्येक विन्दु को स्पष्ट कर देने के लिए सभी दशाओं के उदाहरण उपस्थित किये जायँ। इस विधि में सिद्धान्तों का निर्माण बालक

अपनी बुद्धि से करता है, इसलिये यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि उदाहरणों में लिये गये शब्द, उन वाक्यों की गठन, तथा तथ्यों का संकलन बालक की अनुभव-परिधि के भीतर हों और उससे पूछे गये प्रश्न उसकी अनुसन्धान-प्रवृत्ति को जाग्रत करने में सहायक हों। अन्यथा वह सिद्धान्तों को बोझ समझ कर अपने ऊपर लाद लेने के अतिरिक्त और कुछ न करेगा।

हम पीछे कह चुके हैं कि व्याकरण की उत्तम शिक्षा तभी दी जा सकती है जब बालक में भाषा बोलने, लिखने, पढ़ने, सुनने और समझने की योग्यता हो जाय। भाषा-शिक्षा प्रारम्भ करने में व्याकरण को अनावश्यक मान कर ही आगे बढ़ना चाहिए। एक निश्चित सीमा तक भाषा की योग्यता हो जाने के पश्चात् यथा सम्भव केवल प्रयोग-विधि द्वारा व्याकरण पढ़ाना चाहिए।

व्याकरण सम्बन्धी कुछ अत्यावश्यक साधारण बातें प्राथमिक पाठशालाओं की उच्चतम कक्षाओं में बताना प्रारम्भ कर देना चाहिए। आगे चलकर नियम आदि माध्यमिक कक्षाओं में तथा उनका तुलनात्मक ज्ञान उच्च कक्षाओं में कराना चाहिए। भाषा में होनेवाली बालक की व्याकरण सम्बन्धी भूलों से अध्यापक को सर्वदा सावधान रहना चाहिए—अन्यथा यदि प्रारम्भ में अशुद्ध भाषा लिखने की कुटेव पड़ गई तो उसके सुधारने में नाकों चने चबाने पड़ेंगे। वाक्य-रचना, शब्दों के प्रयोग, लिङ्ग औ बचन के प्रभाव आदि पर विशेष ध्यान देते रहना चाहिए।

यह भूलना न चाहिए कि व्याकरण सम्बन्धी सभी भूलों का एक साथ सुधार कर देना बालक के साहस को धक्का पहुँचाता है। यह आवश्यक नहीं कि उसकी सभी भूलें प्रारम्भ में ही दूर करदी जायँ। संशोधन में कक्षा-योग्यता का ध्यान रखना अनिवार्य है। हम रचना-संशोधन के समय इस बात पर सम्यक प्रकार से विचार

कर चुके हैं कि संशोधन के समय बालक की केवल उन्हीं भूलों को सामने रखना चाहिए जिनके सुधारके योग्य वह हो गया है—यदि कक्षा २ का बालक लिखे 'मेरे गुरुजी ने आँगन में ३-४ वृक्ष लगा दिया तो यद्यपि यहाँ 'दिया' शब्द को शुद्ध करके 'दिये' शब्द रक्खा जाना चाहिए—किन्तु यह संशोधन आगे की कक्षाओं में चलकर करना चाहिए। छोटी कक्षाओं में इस सुधार से हानि ही होगी।

हिज्जे अथवा स्पेलिंग की शिक्षा

हिन्दी की लिखावट उच्चारण के १०० प्रतिशत अनुकूल है। यही कारण है कि हिन्दी में फारसी के 'हिज्जे' या अंग्रेजी के स्पेलिंग शब्द के जोड़ का कोई शब्द ही नहीं है। फारसी के तोता के 'तो''ते' के झगड़े तथा अंग्रेजी में बट, बुट की परेशानियों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। हिन्दी में ऐसी कोई विपत्ति नहीं हैं। किन्तु फिर भी लोग प्रचलन की ओर ध्यान न देकर जो मन में आता है लिखते चले जाते हैं—कोई लिखता है 'जायेगा' कोई लिखता है, 'जावेगा' और कोई 'जावैगा' मेरे एक मित्र ने लिखा—'हम तुम्हारे लिये मूंगा-सिल्क लेते आवैंगे'। मेरी एक छात्रा जो अब हिन्दी में एम. ए. पास हो गई है अब भी शान्ति कुँवर लिखती हैं। एक बी. ए. पास सज्जन ने अपनी दूकान के साइन बोर्ड पर लिखा है 'यहाँ रेडियो की मरम्मत होती है और बिक्ता भी है।'

ऊपर के उदाहरणों में जायगा, लिए, आयेंगे, कुँअर, रेडिओ, बिकता आदि शब्दों के प्रचलन पर ध्यान नहीं दिया जाता। बालक की इस प्रकार की भूलों के सुधार और हिंदी में शुद्ध स्पेलिंग लिख सकने की योग्यता के विकास के लिए अध्यापक को शुद्ध उच्चारण का यथेष्ट ज्ञान होना चाहिए जिससे वह बालक का उच्चारण प्रारम्भ

से ही शुद्ध रख सके। आलेख आदि लिखाते समय उच्चारण पर विशेष ध्यात देना चाहिए हिन्दी में होने वाली स्पेलिंग सम्बन्धी भूलों से मुक्ति पाने के लिए शुद्ध उच्चारण ही मूल मंत्र है।

उच्च कक्षाओं में विद्यार्थी की मौखिक अभिव्यक्ति के समय अध्यापक को सजग रहना चाहिए अन्यथा वे बड़े बड़े भाषणों में भी उच्चारण सम्बन्धी भूलें करते रहेंगे और इन भूलों का प्रभाव उनकी लिखित रचनाओं पर भी पड़ेगा तब 'जैसा बोलें वैसा ही लिखें' के सिद्धान्त में जो गुण हैं वे दोष के रूप में परिणत हो जायंगे।

विराम-चिह्नों की शिक्षा

कुछ धुरन्धर पण्डितों का कहना है—"हिन्दी में विराम चिन्हों की आवश्यकता ही नहीं है।" किन्तु उनके ये विचार संस्कृत सम्बन्धी जीर्ण-ज्ञान तथा तद्जन्य हठवादिता से उत्पन्न हुए हैं। वे हिन्दी के बिषय में सोचते समय संस्कृत के विषय में सोचने लगते हैं।—यह ठीक है कि हिन्दी में पहिले केवल पूर्ण विराम अथवा खड़ी पाई का ही प्रयोग होता था और इन अनेक विराम चिन्हों का प्रयोग आंग्लभाषा के प्रभाव से होने लगा है। किन्तु प्रभाव किसी का भी पड़ा हो यदि वह अच्छा है तो उसे विदेशी होने के कारण अपनाने में क्या हिचक है। यदि उनके राष्ट्रवाद, प्रजातन्त्रवाद आदि सिद्धान्तों से होने वाले लाभोंको देखकर हमने उन्हें अपनाया तो अन्य क्षेत्रों में यह हिचक क्यों ?

अनेक अवस्थाओं में ऐसा स्पष्ट रूप से देखा जाता है कि यदि उपयुक्त विराम चिन्ह का प्रयोग न किया गया हो तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अतएव बालकों को इन अनर्थों से बचाये रहने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक यथावश्यक चिन्हों की शिक्षा माध्य-

मिक शिक्षा-काल से ही प्रारम्भ कर दें। हाँ प्राथमिक पाठशालाओं में कक्षा १-३ तक के बालकों को पूर्ण विराम के अतिरिक्त अन्य कोई चिन्ह न बताना हानिकर नहीं है। कक्षा ४ में पहुँच कर प्रश्न का चिन्ह भी बता देना चाहिए। कक्षा ६-७ में सम्बोधन और अल्प विराम तथा कक्षा ६-१० तक डैश, कोलन डैश, उल्टा कामा, कोष्ट आदि चिन्हों का प्रयोग सिखा देना चाहिए। गद्य, पद्य दोनों में इनकी समान आवश्यकता है। इस ज्ञान की अनुपस्थि में बालकों के सामने क्या कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं इनके लिए निम्नलिखित उदाहरणों पर ध्यान दीजिए।

पद्य-(भ्रामक)—हिल लगे मृदु मन्द समीर के
सलिल विन्दु गिरा शुठि अंक से
महि न थे किसका मन मोहते,
जल धुले दल पादप पुंज के।

(स्पष्ट)—हिल, लगे मृदु-मन्द समीर के,
सलिल-विन्दु गिरा शुठि अंक से
महि, नथे किसका मन भोहते,
जल-धुले दल पादप-पुंज के।

(तृतीय पंक्ति को पीछे 'मन रहे किसका न विमोहते' कर दिया गया)

२-(भ्रामक) कंज मरे रबि के दरसे, कबहूँ न मरे वह चन्द्र दिखाये।
मीन मरे जल के परसे, कबहूँ न मरे वह पावक खाये।
तीय मरे पिय के सरसे, कबहूँ न मरे परदेश सुनाये।
संत जो पाप करैं तो तरैं, कबहूँ न तरै हरि के गुण गाये॥

(शुद्ध)-[दरसे, परसे, सरसे और तरें के पश्चात् प्रयोग किए हुए चिन्ह को 'कबहूँ न' के पश्चात् प्रयोग कीजिए।]

३-(भ्रामक) मातु कहाँ नृप तात गये सुरलोकहिं क्यों सुत शोक लये।
सुत कौनसु राम कहाँ हैं अबै बन लक्ष्मण सीय समेत गये।
बन काज कहा प्रिय केवल मों सुख तोको कहा सुख यामें भये।
तुमको प्रभुता धिक तोको महा अपराध सदा निज शीश लये।

(स्पष्ट)—मातु! कहाँ नृप? तात! गये
सुरलोकहिं, क्यों? 'सुत-शोक लये'।
सुत कौनसु? 'राम' कहाँ हैं अबै?
'बन लक्ष्मण-सीय समेत गये'।
बन काज कहा? सुत! केवल मो सुख, तोको कहाँ सुख यामें भये?
तुमको प्रभुता, धिक तोको, महा अपराध सदा निज शीश लये॥
आदि।

इसी प्रकार गद्य में:—
देव मन्दिर में कैसे।
देव-मन्दिर में कैसे?
देव! मन्दिर में कैसे?

एक छात्राध्यापक ने एक दिन कक्षा ७ के बालकों के लिए श्यामपट पर लिखा 'झालाने राणा से कहा "महाराज आप सोचिए, मत मुकुट मुझे दीजिए"। शीघ्रता में उसने 'मत के पश्चात् लगनेवाला चिह्न सोचिए के पश्चात् लगा दिया। एक बालक ने उठकर पूछा पण्डितजी! क्या राणा प्रताप स्वयं उसे अपना मुकुट देकर रण-क्षेत्र से भागना चाहते थे? छात्राध्यापक मेरी ओर देखने लगा कि मैंने सुन लिया अथवा अभी बचने का अवसर है।

एक दूसरे छात्राध्यापक ने कक्षा ८ के निमित्त श्यामपट पर लिखा 'अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित घोड़े पर सवार उस वीर ने सीधे दुर्ग में प्रवेश किया'। मैंने एक बालक से पूछा—कौन अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित

था ? उससे उत्तर मिला "घोड़ा"। इस भूल का मात्र कारण यह था कि सुसज्जित के पश्चात् अल्प विराम का चिह्न नहीं लगाया गया।

तात्पर्य यह कि हिन्दी के वे परम हितैषी जो इन चिन्हों के पक्ष में नहीं हैं इन कठिनाइयों से किसी अन्य प्रकार मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते।

कहीं कहीं प्रश्न, सम्बोधन आदि अनेक चिह्न व्यर्थ अथवा भ्रमोत्पादक अवस्था में भी लगा दिये जाते हैं। इन भूलों से बालक को सावधान कर देना चाहिए—

कितना सौन्दर्य है इस पुष्प में ?

मुझे ज्ञात है परीक्षा में कैसे प्रश्न पूछे जाते हैं ?

मैं क्या भगवान हूँ जो आपको अच्छा कर दूँगा ? आदि वाक्यों में प्रश्न के चिह्न (?) का प्रयोग त्रुटिपूर्ण है।

इसी प्रकार अल्प विराम; सम्बोधन, आदि अनेक चिह्नों के प्रयोग में प्रायः भूलें होती रहती हैं। इनकी ओर सतर्क रहकर बालक को इनके प्रयोग की शिक्षा दी जाय।

अध्याय १०

पद्य-शिक्षा-विधि

पद्य वह रचना है जिसमें भावों की मूल गद्यात्मक अभिव्यक्ति को छन्दों की सीमा में बाँध दिया जाता है। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि 'पद्य' शब्द 'कविता' शब्द से वृहत्तर अर्थ रखता है। सभी कविताएँ पद्य हो सकती हैं किन्तु सभी पद्य कविता नहीं हो सकते-पद्य छन्दों की सीमा को लाँघ नहीं सकता किन्तु कविता उससे मुक्त भी हो सकती है :—

नारी ! यह रूप तेरा
जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की
छाया भी पड़ी नहीं।
.........'प्रसाद'।

बच्चों के मनोरंजनार्थ लिखी हुई छन्द-बद्ध रचनाएँ तथा राह चलते बननेवाली तुक-'बन्दियाँ' कविता भले ही न हों किन्तु वे पद्य अवश्य हैं।

यहाँ हम पद्य-शिक्षा-विधि की चर्चा करेंगे। कविता उसके बाहर की वस्तु नहीं है, अतएव स्पष्ट रूप से कविता-शिक्षा-विधि भी पद्य-शिक्षा-विधि के भीतर ही आ जाती है। सच तो यह है कि बालकों या अर्ध-शिक्षित जनता के निमित्त लिखी गई जिन तुक-बन्दियों को हम कविता की संज्ञा देने में हिचकते हैं वे वस्तुतः कवि की भावी कविताओं तथा पाठक की भविष्य में कविता समझने की शक्तियों की मूल श्रोत हैं। इनकी अनुपस्थिति में न प्रौढ़ विद्यार्थी कविता समझने योग्य हो सकता है और न प्रौढ़ कवि कविता लिखने योग्य। तब यदि इन तुक-बन्दियों को भी हम कविता का पूर्व रूप कहें तो हानि ही क्या है।

कक्षा दो के बालकों के लिए—

'गधा एक था मोटा ताजा।
बन बैठा वह बन का राजा॥'

का जो महत्व है वही महत्व कक्षा ९-१० के बालकों के लिए उच्च साहित्यिक कविताओं का है—

चिर वन्धु पथ आप,
पग - चाप संलाप,
•दूरी क्षितिज की परिधि ही रही नाप

हर पल मुझे छाँह,
हर साँस आवास।
मैं चिर पथिक वेदना का लिये न्यास ॥

'महादेवी'

ऊपर आधुनिक हिन्दी-साहित्य के महानतम कवि 'प्रसाद', की जिस रचना का उदाहरण दिया गया है उसे पढ़ाने के समय भी पद्य-शिक्षा-विधि काम में लाई जायगी क्योंकि वह कविता है और इन तुक-बन्दियों तथा कविताओं के विषय में तो यह उचित है ही। इस अवस्था में कविता के लक्षणों का प्रश्न ही हमारे विषय की सीमा से बाहर चला जाता है। तथापि छात्राध्यापकों की जिज्ञासा के समाधान के लिये हम नीचे विभिन्न देशी और विदेशी कवियों द्वारा बताये गये भिन्न-भिन्न लक्षण उपस्थित करते हैं, यद्यपि इनमें किन्हीं दो के विचारों में कोई साम्य नहीं है :—

जहाँ कविवर 'विश्वनाथ' कहते हैं :—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'

वहाँ अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ कहता है :—

'विस्डम मैरीड टु इम्मार्टल वर्स'

[दि इक्सकर्शन (बुक ७)]

'च्वायस बर्ड एण्ड मेजर्ड फ्रेज एबव दि रीच
आफ़ आर्डिनरी मेन'

[रिज़ोलुशन एण्ड इण्डिपेण्डेन्स]

जहाँ 'वामन' के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है यथा 'रीतिरात्मा काव्यस्य' वहाँ अंग्रेज कवि 'टेनिसन' ने लिखा है—

'दैट आन दि स्ट्रेच्ड फ़ोरफ़िंगर आफ़ आल टाइम
स्पार्किल फ़ार एवर'

[दि प्रिन्सेज़ (कैन्टो २)]

'पोप' ने लिखा है—

'दि वैरिइंग वर्स, दि फुल रिसाउण्डिंग लाइन,
दि लांग मेजेस्टिक मार्च, एण्ड एनर्जी डिवाइन।'

[इमिटेशन्स आफ़ होरेस (बुक २ इपिस्टिल १)]

'हिल' ने कविता को ईश्वर-प्रदत्त शक्ति बताकर सबके कथनों को व्यर्थ सिद्ध कर दिया—

'रीड, मेडिटेट, रिफ्लेक्ट, ग्रो वाइज़—इन वेन;
ट्राई एव्री हेल्प, फ़ोर्स फायर फ्राम एव्री स्पार्क;
येट शैल यू नेवर दि पोएट्स पावर अटेन,
इफ़ हिवेन नेवर स्टाम्प्ड यू विथ दी म्यूसेज़ मार्क॥'

[दि पोएट]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता के सम्बन्ध में किन्हीं दो व्यक्तियों के विचार भी एक से नहीं हैं। ऐसी अवस्था में कविता वस्तुतः क्या है, उसमें किन लक्षणों का होना अनिवार्य है आदि आपदाओं के कुचक्र में पड़ना यहाँ समय के अपव्यय के अतिरिक्त और कुछ न होगा। अतएव यहाँ हम अपनी ऊपर कही हुई बातों के अनुसार सभी पद्यों को कविता की ही श्रेणी में रखकर शिक्षण-विधि की चर्चा करेंगे।

पद्य-शिक्षा के उद्येश्य—पद्य-शिक्षा के निम्नलिखित उद्येश्य हैं।

१—स्वर-प्रवाह तथा भावों के अनुसार पढ़ने की टेव डालना।

२—कवि की अनुभूतियों तथा कल्पनाओं और आदर्शों तक विद्यार्थियों के हृदय और मस्तिष्क को यथासंभव पहुँचाने का प्रयत्न करना।

३—मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्तियों का संशोधन करते हुए उसकी सुप्रवृत्तियों को सुसंस्कृत रूप में जाग्रत करना तथा मानव-हृदय के भीतर छिपी हुई शक्तियों को कविता के प्रभाव से सक्रिय बनाना।

४—साहित्यिक सौन्दार्यानुभूति की वृद्धि करते हुए भाषा की मार्मिकता का ज्ञान कराना तथा विचारों को परिष्कृत एवं सुसज्जित रूप में व्यक्त कर सकने की क्षमता बढ़ाना।

५—चरित्र पर कल्पना तथा आदर्श का प्रभाव डालते हुए सुन्दर समीक्षा द्वारा दूसरों के भावों के गुण दोष की परख करने की क्षमता उत्पन्न करना।

पद्य-शिक्षा में इन उद्देश्यों का ध्यान रखना आवश्यक है। गद्य-शिक्षा के अध्याय में जिन उद्देश्यों की चर्चा की गयी है उनसे तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि गद्य-पद्य की शिक्षा के उद्देश्यों में क्या अन्तर है। पद्य-शिक्षा के इन उद्देश्यों से यह न समझना चाहिए कि पद्य पढ़ने से गद्य-शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती। साधारणतः भाषा-शिक्षा के यही दो अंग हैं—गद्य और पद्य। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पद्य की शिक्षा से भी उन उद्देश्यों की एक सीमा तक पूर्त्ति हो सकती है किन्तु पद्य-शिक्षा के उद्देश्यों में क्या विशेषता है यह उक्त उद्देश्यों से स्पष्ट हो सकेगी।

हमारे विद्यालयों के निमित्त भाषा तथा भावों के स्तर को ध्यान में रखकर विभिन्न कक्षाओं में पद्यों का निम्नांकित क्रम होना चाहिए—

<u>१—बालोचित तुक-बन्दियाँ</u>—शिशु-कक्षाओं (१–२) में इन तुक-बन्दियों से बालक को अनेक शब्द, शब्द-समूह, वाक्य, छोटी मनोरंजक कहानियाँ आदि रटा सकने में बड़ी सुविधा होती है। ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रकार की तुक-बन्दियाँ उन्हें अनिवार्य रूप से रटानी चाहिए, वरन् यह कि बालकों के समक्ष अध्यापक को ऐसी उत्साह-वर्धक स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए कि बालक अपनी रुचि से इन पद्यों को पढ़ें और याद करें। इन्हें याद

करने योग्य बनाने के लिए इनके चुनाव में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना होगाः—

१—ये पद्य अत्यन्त सरल हों और इनमें प्रयोग किये हुए वाक्य तथा वाक्यांश अत्यन्त छोटे और स्पष्ट हों।

२—इनके अर्थ मनोरंजक हों।

३—इनमें वर्णित बातें बालक के वातावरण और अधिकांश अनुभव-परिधि के भीतर हों।

४—कड़ियाँ छोटी और लयतार हों जिन्हें बालक सुविधा-पूर्वक पढ़ और गुनगुना सकें।

५—सम्पूर्ण पद्य भी प्रायः १८–२० पंक्तियों से बड़े न हों।

२—वर्णनात्मक, घटनाप्रधान, व्यापार प्रधान तथा आदर्श-प्रधान पद्य—कक्षा ३-५ में इन पद्यों के रूपों और तथ्यों में पूर्व-ज्ञान के आधार पर कुछ अन्य बातों का मिश्रण हो जाना आवश्यक है। इस स्तर तक पहुँच कर बालकों को विभिन्न घटनाओं, महान कार्य्यों तथा आदर्श पुरुषों आदि से सम्बन्धित कुछ कविताएँ अवश्य पढ़ाई जाँय। इनकी भाषा भी नीचे की कक्षाओं की अपेक्षा अधिक अपरिचित शब्दों तथा कुछ गम्भीर भावों से भरी होनी चाहिए। भावों में भी रमणीयता का हलका पुट दे देना लाभदायक है।

३—मनुष्य-हृदय के वीर, करुण, दया, मानवता, विश्व-बन्धुत्व आदि भावों से सम्बन्धित—प्रायः वर्णनात्मक किन्तु अन्ततोगत्वा भावात्मक तथा कुछ कल्पनापूर्ण कविताएँ—माध्यमिक कक्षाओं (६–८) में चलकर वर्णनों के साथ ही कल्पना तथा भावों को भी साधारण किन्तु आवश्यक रूप से स्थान मिलना चाहिए। इन कक्षाओं की कविताओं के चुनाव में इन बातों को यथोचित महत्व देना अनिवार्य है—क्रमशः ६ से ७ में तथा ७ से ८ में कल्पनाओं तथा भावों का

आधिक्य होते जाना चाहिए ताकि कक्षा ८ (संपूर्ण माध्यमिक-काल) उत्तीर्ण होते-होते विद्यार्थियों को गम्भीर भावों तथा कल्पनाओं से पूर्ण कविताओं को समझने में आगे चलकर सुविधा हो।

४—पूर्ण रूप से भाव तथा कल्पना प्रधान साहित्यिक कविताएँ—कक्षा ९-१० में शुद्ध साहित्यिक कविताओं की ओर विद्यार्थी को स्पष्ट रूप से झुकाना चाहिए जिससे वे मानव-हृदय के गूढ़तम रहस्यों को समझने के प्रयास में रुचि-पूर्वक आगे बढ़ें। इस स्तर तक पहुंच कर कविताओं का अध्ययन उनके लिए साधारणतः मनोविज्ञान का प्रारम्भिक रूप धारण कर लेता है।

५—साहित्य के सर्वाङ्गों से पूर्ण गम्भीर कविताएँ—कक्षा ११-१२ (विद्यालय की उच्चतम कक्षाओं) तक सभी प्रकार की गम्भीर से गम्भीर और अधिक से अधिक कला-पूर्ण कविताएँ विद्यार्थियों के समक्ष अध्ययनार्थ रक्खी जा सकती हैं। इस स्तर तक पहुँच कर उनके अध्ययन के ढंग में भी उन्हें यथासम्भव स्वतंत्र बनाना अवश्यक हो जाता है।

पद्य-शिक्षण-प्रणालियाँ—उक्त क्रम को ध्यान में रखकर कविता पढ़ाने की प्रायः निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं:—

१—गीत-प्रणाली।
२—अभिनय-प्रणाली।
३—अर्थ-बोध-प्रणाली।
४—व्याख्या-प्रणाली।
५—कथा-वाचक-प्रणाली।
६—प्रश्नोत्तर-प्रणाली।
७—समीक्षा-प्रणाली।

१—गीत-प्रणाली—शिशु-कक्षाओं (१-२) में पढ़ाई जानेवाली तुक-बन्दियों को उनसे बार बार गवाया जाता है। पहिले अध्यापक गाता है, पुनः बच्चे। तत्पश्चात् दोनों एक साथ और अन्त में बच्चे गाते हैं। इस प्रकार अनेक पद्य कण्ठाग्र करा दिए जाते हैं। यह विधि साधारणतः प्राचीन है—केवल कुछ ही लाभों की आशा इससे की जा सकती है—साधारणतः नीरस जिह्वासांसति के अतिरिक्त इसमें कुछ नहीं है। इस विधि को कुछ शिक्षा-शास्त्रियों ने इतना अधिक महत्व दिया है कि प्रारम्भिक कक्षाओं में अक्षर-ज्ञान कराने के लिए भी वे कुछ निश्चित अर्थों वाली तुक-बन्दियों की सहायता लेते हैं—उन्हें रटा कर बालक को पढ़ने और लिखने का ज्ञान कराते हैं:—

पीछे के पृष्ठों में देखिए—

खड़ी छड़ी तुम एक बनाओ,
गोला बायें बीच लगाओ।
उसके दहिने दुम लटकाओ;
क कटहल का लिखकर लाओ॥ आदि

इनमें अर्थ की ओर पीछे रटने की ओर पहिले ध्यान दिया जाता है—यह प्रायः 'सिद्धान्त कौमुदी की विधि' है।

२—अभिनय-प्रणाली—छोटी कक्षाओं में इसके अनुसार कविता में आये पात्रों का कार्य विभिन्न बालकों को बाँट कर अभिनय कराया जाता है। यह पद्य-शिक्षाविधि (जहाँ तक मैंने देखा है) प्रायः असफल ही हो रही है। कभी गान ठीक होता है तो भाव नहीं कभी भाव ठीक हुआ तो गान नहीं कक्षा में इस विधि को प्रायः आवश्यकता से अधिक मनोरंजन का कारण बनते देखा जाता है। बड़ी सावधानी से कार्य किया जाय तभी इससे कोई लाभ हो सकता है।

३—अर्थ-बोध-प्रणाली—यह वही सुपरिचित प्रणाली है जिससे पिछड़े हुए अध्यापक अब भी बालकों को 'हे प्रभो आनन्द-दाता

ज्ञान हमको दीजिए' का अर्थ बालकों को बता कर आगे पढ़ाने लगते हैं। अब भी कक्षा ४–५ से प्रायः यही विधि काम में आने लगती है। कुछ पंक्तियों का अध्यापक सस्वर पाठ करके अर्थ बता देगा, कुछ को बालक स्वयं सस्वर पढ़ कर टूटा-फूटा अर्थ कह कहकर सन्तोष कर लेते हैं। आवश्यकता से अधिक कविताओं को बालकों के पाठ्यक्रम में रख देना भी इस दूषित प्रणाली का अधिक प्रचार करने में सफल हुआ दिखाई देता है। कविताओं के संकलन में उनकी संख्या तथा बालकों की योग्यता को उचित महत्व देने से इस प्रणाली से मुक्ति पाई जा सकती है।

४—व्याख्या-प्रणाली—अर्थ-बोध-प्रणाली का वृहत्तर रूप व्याख्या-प्रणाली है। इसमें अध्यापक केवल अर्थ ही बताकर सन्तोष नहीं करता। वह उस कविता के पात्रों तथा उसमें वर्णित कार्यों और वस्तुओं के कुछ परिचय भी देता है तथा दृष्टान्तों द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से समझा देता है कि ऐसा क्यों, कब और किसके लिये कहा गया है।

५—कथावाचक-प्रणाली—इसे कुछ विद्वान व्यास-प्रणाली भी कहते हैं। यह व्याख्या-प्रणाली का पूर्ण विस्तृत रूप है। यह वही प्रणाली है जिसके सहारे हम प्रायः रामायण आदि की कथा सुनने के समय प्रत्येक छन्द ही नहीं प्रत्येक पंक्ति और प्रत्येक शब्द (कभी-कभी प्रत्येक अक्षर) की उपादेयता, अर्थ-गाम्भीर्य, विचित्रता, अनेक रूपता का दर्शन कथावाचक की वाणी द्वारा करते हैं—जिन लोगों ने बच्चू सूर तथा अन्य कथा-वाचकों द्वारा कही गई कथाएँ सुनी हैं, वे इस विधि को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। इस विधि में समझाई जानेवाली कविता गौण तथा उससे सम्बन्धित पद्यात्मक दृष्टान्त, सूक्तियाँ आदि मुख्य स्थान ले लेती हैं। इस विधि से कथा-वाचक अपने पाण्डित्य का प्रभाव श्रोता के ऊपर (जैसे भी

सम्भव हो) डालने का यथासाध्य प्रयत्न करता है। इस कार्य में सफल होने के लिए वह उमर ख़य्याम, गालिब, कालिदास, भवभूति, कबीर और 'प्रसाद' किसी को नहीं छोड़ता। जहाँ जिसकी आवश्यकता पड़ी (और न पड़ी तो पड़ा कर) दूर तक दौड़ान दिखाता है जिससे श्रोता उसका लोहा मान ले और उसके अध्ययन के सामने सिर झुका दे। मैंने जितनी ऐसी कथाएँ सुनीं उनमें काम की बातें कम और अर्थ का तोड़ मरोड़ तथा ऊल जलूल बातें अधिक दिखाई दीं। एक उदाहरण लीजिए—एक व्यासजी तुलसीदास की निम्नलिखित चौपाई का अर्थ कह रहे थे (मार्गशीष २००६)

नाथ एक आवा कपि भारी।
तेहि अशोक बाटिका उजारी॥

मैं दूसरी कड़ी के अर्थ के समय सामने से जा रहा था। 'उसने (कपि ने) अशोक बाटिका उजाड़ दी' चौपाई सुनते ही यह अर्थ कोई भी समझ सकता था। किन्तु उन्होंने शब्दों की भली प्रकार मरम्मत की। उन्होंने पद्य से गद्य किया—तेहि अशोक टिका बा, ऊ जारी—'वह निडर टिका हुआ है; वह जारेगा।' जैसे वह (बाटिका का रक्षक) पहिले से लंका-दहन की बात जानता था। पुनः इस भाषा पर ध्यान दीजिए—बा, बाय, बाटै, हौ, ई, ऊ हउअै आदि का प्रयोग बलात् उन्होंने वहाँ भी विचारे तुलसीदास के सिर लाद दिया। तिसपर भी तुर्रा यह कि उस रक्षक की तत्सम्बन्धी ज्ञान-गम्भीरता के सम्बन्ध में अनेक दूसरी स्थियों के प्रमाण देने लगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि बुद्धि से युद्ध करने वालों के पाले यह प्रणाली पड़ जाय तो लाभ कम हानि अधिक हो सकती है। कुछ अवसरों में इससे अवश्य कुछ लाभ होता है। किन्तु यह विधि महाविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए ही कुछ काम की है विद्यालयों के लिये पूर्णतः अनुपयुक्त है।

कथा-वाचक की भावुकता तथा भाषा का ज्ञान इस प्रणाली का प्राण है। श्रोता की पूर्ण निष्क्रयता ही इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है। इन कथाओं में प्रायः लोग झपकी लेने लगते हैं।

६—प्रश्नोत्तर-प्रणाली—प्रश्नोत्तर द्वारा बालक को शिक्षा देने के महत्व को अब सर्व सम्मति से शिक्षा शास्त्रियों ने स्वीकार कर लिया हैं। किसी भी विषय में इस विधि की उपयोगिता सराहनीय है—

इस सम्बन्ध में मेरी 'शिक्षा-सिद्धान्त' नामकी (हि. प्र. पु. ज्ञान-बापी काशी द्वारा प्रकाशित) पुस्तक देखिए।

गद्य-शिक्षा-विधि में भी इसकी उपादेयता की चर्चा की गई है। पद्य-शिक्षा में भी इससे बड़ी सहायता मिलती है। भाव तथा भाषा को (विद्यार्थी को सक्रिय रखकर) सबसे अधिक स्पष्ट कर सकने में यह विधि सर्वश्रेष्ठ गिनी जाती है और आधुनिक युग की देशी विदेशी सभी शिक्षण-संस्थाओं में पद्य-शिक्षा के लिये भी यह विधि प्रधानतः कार्य में लाई जाती है। इसकी सर्वकालिकता तथा सर्वदेशिकता ही इसके सबसे बड़े गुण हैं। यों तो किसी भी कक्षामें किसी भी कविता की शिक्षा के समय यह प्रयोग में लाई जा सकती है, किन्तु प्रारम्भ से कक्षा ९–१० तक इसकी विशेष उपयोगिता है इससे आगे की कक्षाओं (११–१२) में इसके साथ समीक्षा-विधि को भी काम में लाने से पूरा लाभ उठाया जा सकता है। (प्रश्नोत्तर-विधि के उदाहरण अन्त में दिये हुए संकेतों-में देखिए)।

७—समीक्षा-प्रणाली—समीक्षा प्रणाली को कुछ लोग तुलना प्रणाली भी कहते हैं। किन्तु वस्तुतः तुलना समीक्षा का एक अंग है। अतएव वह समीक्षा प्रणाली के भीतर ही आ जाती है-समीक्षा करने के समय उसी भाव या कल्पना की अन्य कवियों की रचनाओं तथा

कुछ अन्य दृष्टियों से उसी कवि की अन्य रचनाओं से उस कविता के विभिन्न भावों, शब्द-प्रयोगों तथा प्रवाहों की तुलना करना आवश्यक हो जाता है। समीक्षा प्रणाली प्रायः कक्षा ११-१२ के नीचे प्रयोग में न लानी चाहिये। विद्यार्थियों के कविता सम्बन्धी भाव, शैली तथा कला के तुलनात्मक ज्ञान से समीक्षा कराते हुए उनकी बुद्धि को प्रखर तथा गुण-दोष के विवेक को प्रौढ़ बनाया जा सकता है।

काव्यालोचन के सिद्धान्त विद्यार्थियों को समझा दिये जाते हैं। किन्तु उन सिद्धान्तों के प्रयोग के लिए प्रश्नोत्तर, शंका-समाधान, तथा तुलनात्मक विवेचन के विना समीक्षा की शक्ति ही विद्यार्थी में नहीं उत्पन्न की जा सकती।

समीक्षा की क्षमता विद्यार्थियों में उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उन्हें कुछ आवश्यक पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों और लेखकों के नाम बता दिये जा सकते हैं जिनकी सहायता से वे अपना समीक्षा-ज्ञान आगे बढ़ाकर अध्यापक की कम से कम सहायता लेकर काम कर सकें।

प्रश्नोत्तर-विधि के साथ विद्यालय की उच्चतम (११-१२) कक्षाओं में इस विधि का प्रयोग यथेष्ट लाभदायक होता है। महा विद्यालयों में चलकर इसे विद्यार्थी स्वतन्त्र रूप से प्रयोग में लाने योग्य हो जाते हैं।

कविता-शिक्षण-संकेत—बालकों की सहायता से कठिन अथवा अज्ञात शब्दों के अर्थ निकलवा कर श्यामपटांकित करा देने तक गद्य और पद्य-शिक्षण विधियों में प्रायः कोई अन्तर नहीं है। हाँ, माध्यमिक तथा उच्चतर कक्षाओं में शब्दार्थ से पहिले (प्रस्तावना, के पश्चात्) कवि का साधारण परिचय यथासम्भव संक्षेप में दे देना चाहिये। कहने का ढङ्ग आकर्षक हो। शब्दार्थ लिख देने के पश्चात् कविता की शिक्षा का निम्नांकित क्रम होता है:—

प्रथम आदर्श पाठ—(सस्वर) अध्यापक आवश्यक नियमों के अनुकूल कविता का आदर्श पाठ उपस्थित करता है और बालक शान्ति-पूर्वक कविता को सुनते और समझने का प्रयत्न करते हैं—(यह ध्यान रखने की बात है कि प्रथम आदर्श पाठ के समय बालकों को कविता लिखित रूप में न देखने दिया जाय। गाकर पाठ करना अनुचित है—लय और स्वर को महत्व देना अनिवार्य है (देखिए अ० ४)

बोध-परीक्षा—दो तीन मुख्य प्रश्नों की सहायता से यह परीक्षा ले ली जाय कि बालक कविता की प्रधान बातों को कहाँ तक समझने में समर्थ हुए हैं। (कठिन तथा विस्तृत प्रश्न न पूछे जाँय)

द्वितीय आदर्श पाठ—(सस्वर) तत्पश्चात् द्वितीय आदर्श पाठ करना चाहिए। इस समय बालक अपनी पुस्तकों (या जहाँ कविता लिखी हो) का अवलोकन करते रहें।

आत्मीकरण अथवा व्याख्या—अब अध्यापक बालकों के सहयोग से प्रश्नोत्तर-विधि द्वारा सम्पूर्ण कविता की व्याख्या करेगा। आवश्यक उदाहरणों, प्रसङ्गों, अन्तर्गत कथाओं आदि से भावों को स्पष्ट करते हुए बालकों के लिए सरलतापूर्वक ग्राह्य बना देगा। (यह ध्यान रखना चाहिए कि कबीर, रहीम, बिहारी आदि कवियों के फुटकर दोहों तथा अन्य छन्दों में यही विधि बार-बार प्रयोग में लानी पड़ेगी (प्रस्तावना तथा व्याख्या की चर्चा के लिए गद्य-शिक्षा विधि देखिए) कुछ अध्यापक एक दूसरे से पूर्णतः असम्बद्ध पदों का भी एक साथ आदर्श पाठ देकर एक ही साथ व्याख्या कर देते हैं यह अनुचित है।

व्यक्त पाठ—व्याख्या कर लेने के पश्चात् प्रथमतः एक योग्य छात्र से पुनः अन्य सभी प्रकार के छात्रों से व्यक्त पाठ करा कर उनकी अशुद्धियों को उन्हीं की सहायता से शुद्ध कराना चाहिए।

तृतीयादर्श पाठ—(सस्वर) तत्पश्चात् तीसरी बार पुनः आदर्श पाठ करना चाहिए, जिससे कविता के भावों के संचार में स्थायित्व आ जाय और समझ सकने की योग्यता बढ़ जाने के कारण बालकों की रसानुभूति को प्रोत्साहन मिले। इस पाठ के पश्चात् यदि समय कुछ शेष रहे तो उसी स्तर तथा लगभग वैसे ही भावों की कोई एक दूसरी कविता भी मौखिक रूप से (बिना कहीं देखे) अध्यापक सुनाकर बालकों से (उन्नत माध्यमिक तथा उच्चतर कक्षाओं में) वैसी ही एक दो कविताओं को पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों से ढूँढ़ कर लाने या याद कर लेने को कह सकता है।

कुछ लोगों का विचार है कि बालकों को अपनी संकेत-पुस्तिका में श्यामपटांकित शब्दार्थों आदि को लिख लेने के लिए २–३ मिनट समय अन्त में देना चाहिए। लाभप्रद होते हुए भी यह अनिवार्य नहीं है क्योंकि इस कार्य से कभी कभी कविता द्वारा मिली हुई प्रेरणा तथा रस-संचार में बाधा उत्पन्न होती है।

कविता की वेश-भूषा

कविता की वेश-भूषा उसके विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े सीधे तथा लचकदार, गेय तथा अगेय छन्द हैं, जिनमें विभिन्न अलंकारों तथा रसों का सहयोग कविता को मधुर अथवा कर्कश, करुणोत्पादक अथवा क्रोधोत्पादक, सौन्दर्य्यात्मक अथवा घृणात्मक भावों से भर कर उसे आवश्यक रूप प्रदान करता है। अतएव इन छन्दों, अलंकारों तथा रसों की भी माध्यमिक तथा उच्चतर कक्षाओं में कुछ शिक्षा दे देना आवश्यक है, जिससे इन कक्षाओं के छात्र कविता को सर्वांग रूप से समझ कर उसके उचित अध्ययन तथा समीक्षा में सफल हो सकें। अलंकारों तथा रसों की शिक्षा से कक्षा १ से ८ तक के विद्यार्थियों को प्रायः मुक्त रखना ही उचित है।

छन्द, अलंकार तथा रस की शिक्षा—अब तक छन्दों की शिक्षा देने में प्रायः उनके रूप और लक्षण रटाकर बालक से उदाहरण याद रखने को कह दिया जाता था। इससे इस विषय में विद्यार्थी की रुचि मृतप्राय होती गई। अध्यापक को चाहिये कि छन्दों की जानकारी में विद्यार्थी की रुचि को जाग्रत करे तथा यह समझावे कि विभिन्न प्रकार के भावों को स्पष्ट करने के लिए भी कभी कभी निश्चित प्रकार के छन्दों की आवश्यकता पड़ती है जिनके बिना न भाव पूर्णतः स्पष्ट हो सकेंगे और न कविता सरस हो सकेगी।

साहित्य सम्बन्धी पाठों के साथ ही छन्दों की शिक्षा देना उचित है। अलग घण्टे में ऐसा करने से विद्यार्थी में छन्दों के प्रति नीरसता तथा उनके निष्प्रयोजन होने के भाव का संचार होने लगता है।

यही बात अलंकारों के विषय में भी है। कविता पढ़ने के समय ही उनके द्वारा बढ़ाये जाने वाले सौन्दर्य की व्याख्या कर देने से विद्यार्थी को अधिक आनन्द आता है। पाठ्य विषय के अतिरिक्त बाहरी कविताओं या गद्यों के उदाहरण भी स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिए दिये जा सकते हैं।

रस की शिक्षा अति साधारण रूप से केवल कक्षा ११–१२ के विद्यार्थियों को दी जा सकती है। इसे पूर्णरूप से समझने का स्थान महाविद्यालय है। फिर भी विद्यार्थी को रसों से थोड़ा परिचित करा देने के निमित्त साहित्य-पाठ के समय ही (आवश्यकता के अनुकूल) प्रधान रसों की मुख्य बातें तथा उनकी उपयोगिता उदाहरणों के साथ समझाई जा सकती है। यदि अनिवार्य हो तो उदाहरण बाहर से भी दिए जा सकते हैं।

छन्दों, अलंकारों तथा रसों की शिक्षा में प्रधानतः इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि बीच में उनकी चर्चा छिड़ जाने से

भी प्रधान पाठ (गद्य-पद्य) का तारतम्य न टूटे। मुख्य उद्देश्य इन पाठों को पढ़ाना होना चाहिए, छन्द आदि पढ़ाना नहीं।

इनकी शिक्षा विद्यार्थी की भावाभिव्यक्ति तथा भावग्रहण कर सकने की शक्ति को दृढ़ करती है तथा भाषा-सौन्दर्य की अनुभूति और साहित्य-प्रेम को प्रोत्साहित करती है।

कविता-शिक्षा के अन्य साधन—

कविता-शिक्षा के अन्य साधनों में अन्त्याक्षरी, सुभाषित प्रतियोगिता तथा कवि-सम्मेलन आदि मुख्य हैं।

अन्त्याक्षरी बहुत प्रचलित है, किन्तु उससे यथेष्ट लाभ नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि अध्यापक कविता के गुणों की ओर आवश्यक ध्यान न देकर एक पक्ष के अन्तिम अक्षर से प्रारम्भ होनेवाली कविता को ही दूसरे पक्ष से कहला देना यथेष्ट समझते हों, कविता चाहे कूड़ा-करकट ही हो। यह अनुचित है। गुणों की दृष्टि से कविताओं के प्रकार को एक ऐसी सीमा में बाँध देना चाहिए कि विद्यार्थी उससे बाहर न जायँ।

इसके अतिरिक्त एक ही विद्यार्थी को अनेक कवितायँ तथा कुछ को एक भी न कहने का अवसर मिलने देना अनुचित है। इस सम्बन्ध में भी एक सीमा समय के अनुकूल निर्धारित कर देनी चाहिए।

इसके अन्य नियम आदि अच्छी प्रकार प्रचलित हैं अतएव उनकी चर्चा की आवश्यकता नहीं। हाँ, ढ़, ड़, ञ आदि अक्षरों से समाप्त होनेवाली कविताओं के सम्बन्ध में अध्यापक इच्छानुकूल छूट दे सकता है और घृणा, जातिगत वैमनस्य आदि तथा अवांछित शृंगारपूर्ण कविताओं को न कहने के सम्बन्ध में कुछ निश्चित आदेश पहिले ही दे देना चाहिए।

सुभाषित प्रतियोगिता अन्त्याक्षरी का ही सरलतर किन्तु अधिक लाभदायक रूप है क्योंकि इसमें बालकों को अधिक स्वतन्त्रता मिलती है। वे किसी भी कवि की सुन्दर रचना सुनाने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में अपने ही विद्यालय की विभिन्न कक्षाओं अथवा अन्य विद्यालयों के विद्यार्थियों से प्रतियोगिता भी की जा सकती है। रचनाओं को प्रकारान्तर से सीमित कर देना भी कभी कभी लाभदायक होता है।

कवि-सम्मेलन इन प्रतियोगिताओं का वृहत्तम रूप है। इसमें विभिन्न छात्र-कवि अपनी अपनी रचनाएँ सुनाते हैं। इसकी योजना उच्चतर कक्षाओं (११–१२) में ही अधिक लाभप्रद हो सकती है।

आज के प्रचलित कवि-सम्मेनन का अनुकरण करके हमारे विद्यार्थी भी कविता के सौन्दर्य को कम उसकी गेयता को अधिक महत्व देने लगे हैं। इस प्रकार केवल गलेबाज़ी ही कवि-सम्मेलन की रीढ़ बन गई है। इससे साहित्य की हानि होने के साथ ही बालक के ज्ञानार्जन में भी बाधा पहुँचती है। अतएव उसे कविता के सच्चे सौन्दर्य की ओर पहिले और गेयता की ओर पीछे झुकाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में कभी कभी विषय को निश्चित कर देना भी लाभप्रद होता है—जैसे उन्हें यह बता दिया जाय कि अमुक दिन के कवि-सम्मेलन का विषय 'प्रकृति चित्रण,' 'वर्षा के बादल' आदि होंगे। ऐसे आयोजन दो तीन महीने में एक बार पर्याप्त हैं। तुलसी-जयन्ती, राम-नौमी, गांधी-जयन्ती, स्वतन्त्रता-दिवस आदि अवसरों तर कवि-सम्मेलनों से अधिक लाभ उठाया जा सकता है। समस्याएँ देना हानिकर है। इनसे विद्यार्थी के विकास में बाधा उत्पन्न होती है।

अध्याय ११

भाषा-शिक्षक से

साधारणतः प्रत्येक शिक्षक को और विशेषतः भाषा-शिक्षक को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिएः—

१—प्रतिदिन एक दैनिक समाचार-पत्र तथा सप्ताह में कम से कम एक मासिक पत्रिका और एक पक्ष में कम से कम एक नई प्रकाशित पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। तथ्यों को हृदयांकित करने के साथ ही इन समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की भाषा की ओर विशेष रूप से सजग होना उसे अपना कर्तव्य बना लेना चाहिए। भाषा सम्बन्धी भूलों—अनुचित प्रयोगों, अनुवाद की त्रुटियों, छाया-कलुषित भाषा, स्पष्ट वाक्य-विन्पास, तथा प्रकृति के वैपरीत्य आदि का क्रमवद्ध रूप से संकलन करके अपने सुझाव तत्सम्बन्धी संस्था अथवा व्यक्ति को देकर उसे सतर्क कर देना और अपने छात्रों को उनकी ओर जागरुक रखना उसका धर्म है। अवश्य ही यह कार्य अध्यवसायपूर्ण है किन्तु यदि भाषा-शिक्षक इसे न करेगा तो और कोई न करेगा और यदि यह कार्य करते रहने को हम कटिवद्ध न हो जायँगे तो जन्म जन्मान्तर में भी भाषा का सुधार न किया जा सकेगा।

ऐसी भूलों को कम महत्व देना चाहिए जिनने हमारी भाषा का कोई स्पष्ट अनिष्ट होने की सम्भावना न हो, किन्तु जो भूलें उसकी प्रकृति, रूप प्रसार तथा उपयोग में कोई विकार उत्पन्न कर सकती हैं उनकी ओर ध्यान देना ही पड़ेगा चाहे वे किसी महान साहित्यिक (व्यक्ति) की हों अथवा ख्याति-लब्ध संस्था की, क्यों कि भूलें हमसे आपसे सबसे हो सकती हैं। किसी अच्छे पत्रकार, व्याख्याता अथवा साहित्य-प्रेमी का इन सुझावों से लाभ ही होगा। हमारी भाषा का

तो लाभ होगा ही सबसे अधिक लाभ उन लोगों को होगा जो बड़े बड़े साहित्यिक पदों पर पहुँचकर भी बोलने तथा लिखने में संयम नहीं रखते और उनके मुख और लेखनी से जो निकला उसी को आदर्श मान बैठते हैं।

इन सुधारों से सर्व साधारण का भी लाभ होगा। एक उदाहरण लीजिए—अभी, (इन पंक्तियों के लिखने के एक घण्टे पहिले एक सज्जन (पड़ोसी) आए और बातें करते करते कहने लगे 'यह कितना बड़ा अनर्थ हो रहा है; सरकार एक दूकान द्वारा दूसरे दूकानदारों को राशनकार्ड पर बिक्री करने के लिए कपड़ा दे रही है—क्या वह वहाँ से सीधे राशनकार्ड वालों को ही नहीं दे सकती ?

मैंने पूछा "आपसे किसने कहा"। वे दौड़कर सौर ११ आषाढ़ (जून २५) का एक स्थानीय दैनिक ('···') समाचार-पत्र ले आए। उसके 'शहर बनारस' के समाचार में से एक समाचार दिखाने लगे '(अमुक दूकान में अमुक समय से) छींट और साड़ियाँ बिक्री के लिए उपलब्ध होंगी, बिक्री राशन कार्ड पर होगी'। सारी कठिनाई बिक्री के लिए उपलब्ध होंगी' से उत्पन्न हुई थी।—उन्होंने समझा था कि जो लोग कपड़ा वेचना चाहेंगे उन्हीं को वे छींट और साड़ियाँ मिलेंगी (दूसरों को नहीं) और लेने के पश्चात् उन्हें राशन काड पर बेचना होगा। बड़ी देर तक समझाने के पश्चात् उनको ठीक बात समझ में आई। मैंने उक्त पत्र को उलट दिया तो पृष्ट २ पर लिखा था 'संविधान संशोधन की दुखःद घटना'—जैसे संविधान-संशोधन कोई घटना हो। उसी में आगे लिखा था 'डा० ग्राहम के विरोध में जुलूस निकालेंगे'। जैसे विरोध में भी जुलूस निकलते हैं (जुलूस शब्द जलसा से बना हुआ है।) और आगे था, टण्डनजी नदाउन विमान द्वारा रवाना हो गये जैसे नदाउन किसी विमान का नाम हो (वह स्थान है)।

६—प्रत्येक मास में किसी साहित्यिक विषय पर स्वयं एक गवेषणा-पूर्ण लेख किसी पत्र या पत्रिका के लिए लिखना चाहिए—और अपने छात्रों से विद्यालय की हस्तलिखित पत्रिका में लेख तथा कविताएँ लिखने के लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

अध्याय १२

शिक्षण-विधियों की जो चर्चा पीछे की गई है उनके स्पष्टीकरण के निमित्त कुछ शिक्षण-संकेत यहां दिये जाते हैं जिनसे अध्यापक तथा छात्राध्यापक विभिन्न प्रकार के पाठों का शिक्षण-क्रम सरलता पूर्वक समझ सकें :—

दिनांक	कक्षा	विषय	समय	अध्यापक
२६–१–५१	१	भाषा	३५ मिनट	एन. पी. राम

पाठः—"शब्दों द्वारा वाक्य-रचना।"

[खेल की रीति से—प्लेवे मेथड]

उद्देश्यः—साधारण:—१ भाषा की शिक्षा में रुचि पैदा करना।

२—स्मरण-शक्ति का विकास करना।

३—शब्द-कोष की वृद्धि करना।

विशेष:—४—भाव को पूरे वाक्य में प्रकट करने की क्षमता बढ़ाना।

५—शब्दों द्वारा वाक्य बनाने की शिक्षा

पूर्व ज्ञान—बच्चे शब्दों को पढ़ना जानते हैं।

सहायक सामग्रीः—मोटर का माडल, शब्दों का कार्ड, वाक्यों का चार्ट, चक्की तथा चित्रादि।

प्रस्तावनाः—शब्दों की जाँच :—शब्द लिखे हुए कार्डों का वितरण करके बच्चों द्वारा कार्डों में लिखी हुई वस्तुएं उठवाना।

यथा—चाकू, बटन, नमक, नीबू, दावात आदि।

फ्लैश रीडिंग के लिये बनाये हुए बक्स के द्वारा शब्दों का पढ़वानाना। यथाः—केला, दोना, बोतल, जलेबी आदि।

[शब्दों के चार्ट में सूचक की सहायता से बच्चों द्वारा शब्दों का दिखलाया जाना]

मूल पाठः—(मोटर का माडल दिखाकर)

प्रश्नः—१—यह क्या है?

(श्यामपटांकित कर पढ़वाने के पश्चात्)

(मोटर दौड़ाकर)

२—मोटर क्या करती है?

(श्यामपट पर लिखकर)

३—यह क्या लिखा हुआ है?

(चक्की का खेल)

अध्यापक द्वारा नमूनाः—चक्की को इस प्रकार घुमाना ताकि छोटी और बड़ी चक्की पर लिखे हुए शब्दों द्वारा एक वाक्य बन जाय, जो सार्थक हो।

नमूने की चक्की पर बच्चों द्वारा वाक्य बनवाने का प्रयास किया जायगा ताकि प्रत्येक बच्चा इस कार्य से परिचित हो जाय।

(चक्की का वितरण)

प्रत्येक बच्चे से अध्यापक द्वारा दिये गये आदर्श के आधार पर चक्की में लिखे हुए शब्दों से वाक्य बनवाया जायगा। यथाः—

आम खाओ। दूध पीओ। घोड़ा दौड़ा।

(आँख मिचौनी का खेल)

(आँख बन्द कराकर, बन्दर का चित्र उपस्थित करके)।

(आँख खुलवाकर)।

१—इस चित्र में तुम क्या देख रहे हो? उत्तर को श्यामपटांकित करना) पुनः—(आँख बन्द कराकर) मन्दिर पर बैठे हुए बन्दर का चित्र उपस्थित करकेः—

(आँख खुलवाकर)।

२—बन्दर कहाँ बैठा है?

श्यामपट पर बन्दर शब्द के सामने 'मन्दिर पर बैठा है' लिखकरः—

३—यह क्या लिखा हुआ है?

अभ्यासः—(वाक्यों का कार्ड-वितरण)

१—चार्ट पर बने हुए वाक्य पर संकेत करके बच्चों द्वारा वही कार्ड निकलवाना।

२—कैलेण्डर में छपे हुए वाक्यों को बारी बारी से दिखाकर पढ़वाना।

श्यामपट लेखः—१—मोटर दौड़ती है।

२—आम खाओ।

३—दूध पीओ।

४—घोड़ा दौड़ता है।

५—बन्दर मन्दिर पर बैठा है।

तिथि	कक्षा	विषय	समय	अध्यापक
७-३-५१	२	भाषा	४० मि०	के० पी० लाल

उद्देश्य-सा०-१—अतीत के ज्ञान की सहायता से वर्तमान काल की समस्याओं को सुलझाने की क्षमता प्रदान करने के लिए कहानियों में विद्यार्थियों की रुचि उत्पन्न करते हुए भाषा सीखने के निमित्त प्रयत्नशील बनाना।

२—स्मरण-शक्ति का विकास करते हुए शब्द-कोष की वृद्धि करना।

मुख्य—बच्चों के साधारण ज्ञान की वृद्धि करते हुए भावाभिव्यक्ति की क्षमता उत्पन्न करना।

पाठ सम्बन्धी चित्र—

१—गाँव व लट्ठे के सहारे का चित्र।

२—तीन व्यक्तियों का लट्ठे पर बैठकर हाथ से पानी हटाने का चित्र।

३—डाँड़े से लट्ठा खेने का चित्र।

४—नदी में सामान गिरने का चित्र।

५—लट्ठे के बीच का भाग जलाकर सामान रखने का चित्र।

अन्य वस्तुएं

१—कार्ड बोर्ड की नाव।

२—पानी से भरा शीशे का टब।

पूर्व ज्ञान—बच्चे नदी और नाव देख चुके हैं।

प्रस्तावना—(१) सड़कों पर कौन कौन सवारियाँ चलती हैं ?

(२) किसी ऐसी सवारी का नाम बताओ जो हवा में चलती हो ?

(३) पानी में कौन कौन सी सवारियाँ चलती हैं ?

(४) नावें किस प्रकार बनीं ?

आज हम यही ज्ञात करेंगे कि हमारे पूर्वजों को यह किस प्रकार मालूम हुआ कि हम नाव से नदी पार कर सकते हैं।

मूल पाठ—एक गाँव में कोई भाई बहिन रहते थे। भाई का नाम टिल्लू व बहिन का नाम कोकी था। उनके गाँव के पास एक नदी बहती थी नदी के किनारे एक जामुन का पेड़ था, जिसमें खूब जामुन फली हुई थी। एक दिन दोनों खेलते खेलते नदी के किनारे चले गये। वहाँ जामुन फली हुई देखकर दोनों के मुँह में पानी भर आया। दोनों अपनी लालच को रोक न सके और कोकी पेड़ पर चढ़कर जामुन तोड़ने लगी। टिल्लू पेड़ के नीचे जामुन बीन बीन कर खाने लगा। जामुन तोड़ते तोड़ते कोकी एक पतली डाल पर चली गई। डाल पतली होने के कारण टूट गई और कोकी नदी में गिर गई। अपनी बहिन को पानी में गिरते देखकर टिल्लू घबड़ा गया और अपनी बहन को बचाने के लिए नदी में कूद पड़ा। लेकिन दोनों तैरना नहीं जानते था जिससे दोनों डूबने लगे। संयोग से उधर से एक लट्ठा बहता हुआ आ निकला, दोनों उसी से चिपट गये।

चित्र उपस्थिति करके निम्नांकित प्रश्नों द्वारा ज्ञान पुष्ट किया जायगा

(चित्र नं० १)

१—चित्र में गाँव कहाँ है ?

२—घर किस प्रकार के बने हैं ?

३ - कोकी किस पेड़ से गिरी थी ?

४—अब दोनों किससे चिमट रहे हैं ?

लट्ठा बहते बहते दूर किनारे पर जा लगा। दोनों भाई बहिन किनारे उतरे। इधर कोकी के माता पिता घबड़ा रहे थे और अपने बच्चों को खोज रहे थे। खोजते खोजते वहीं पहुँचे जहाँ कोकी व टिल्लू

किनारे पर लगे थे। अपने दोनों बच्चों को देखकर माता पिता ने उन्हें गले लगाया। इसके बाद अपने बच्चों से हाल पूछने लगे। टिल्लू ने सब हाल बताया। पूरा हाल सुन लेने के बाद उनको ज्ञात हुआ कि अगर नदी में लट्ठा डालकर उसपर बैठे तो डूब नहीं सकते।

आवृत्ति १—कोकी आवृत्ति कैसे पानी में गिर गई ?

२—नदी में बच्चों को किसने सहारा दिया ?

३—इस घटना से बच्चों के माँ बाप को क्या नई बात मालूम हुई ?

द्वितीय सोपान—(चित्र नं० २ दिखाकर)

१—इस चित्र में आदमी किस चीज़ पर बैठे हैं ?

२—लट्ठे पर कितने आदमी बैठे हैं ?

३—वह आदमी हाथ से क्या कर रहा है ?

४—लट्ठा किस किनारे की ओर जा रहा है ?

जब लोगों को ज्ञात हो गया कि लट्ठे पर बैठकर नहीं डूब सकते तो नित्य लट्ठे पर बैठकर नदी में सैर करने लगे। संयोगवश एक दिन टिल्लू के चाचा को शरारत सूझी, वह पानी में हाथ डालकर पानी हटाने लगा जिससे उसका लट्ठा शीघ्र दूसरे किनारे तक पहुँच गया। इससे उन्हें ज्ञात हुआ कि इसी तरह हाथ से पानी हटाकर हम नित्य शीघ्र उस पार आ जा सकते हैं। अब वे लोग रोज़ पार के गाँव में जाने लगे।

(चित्र नं० ३ उपस्थित करके)

१—लट्ठे पर कितने आदमी बैठे हैं ?

२—यह आदमी हाथ में क्या लिये है ?

३—डाँड़े से क्या कर रहा है ?

४—इससे पहिले लट्ठा किस चीज़से चलाते थे ?

इसी तरह हाथ से लट्ठे को ठेलकर वे लोग बराबर पार आते जाते थे। जब जाड़े का मौसम आया तो पानी ठण्डा रहने लगा जिससे पानी में हाथ डालने से हाथ गलने लगा। अब उन लोगों का पार आना जाना रुक गया। अब वे सोचने लगे कि कोई ऐसा उपाय करें कि हाथ भी पानी में न डालना पड़े और हमारा लट्ठा पार आ जा सके। सोचते सोचते उन लोगों की समझ में यह बात आई और उन्होंने डाँड़ा बनाया। डाँड़े से ही लट्ठा खेकर पार आने जाने लगे।

आवृत्ति १—हाथ से लट्ठा चलाने में क्या तकलीफ हुई ?

२—उन्होंने इस कठिनाई को किस प्रकार दूर किया ?

तृतीय सोपान (चित्र नं० ४ उपस्थित करके)

१—इस आदमी के हाथ में क्या है ?

२—यह अपना सामान क्यों पकड़े हुये है ?

३—लट्ठे से पानी में क्या चीज़ गिर पड़ी है ?

४—यह लट्ठे से क्यों गिर पड़ी है ?

लट्ठे पर वे लोग अपना सामान भी इसपार से उसपार लेकर आने जाने लगे। एक दिन नदी में लहर तेज़ थी, लहर के झकोर में पड़कर उसका लट्ठा हिलने लगा जिससे उनका सामान नदी में गिर पड़ा। अब वे सोचने लगे कि कौनसी ऐसी तरकीब की जाय कि सामान लट्ठे से पानी में न गिरने पावे। उस समय कोई औजार नहीं था कि जिससे वे इस कठिनाई को दूर करते। आखिरकार सोचकर उन्होंने एक तरकीब निकाली। लकड़ी के लट्ठे पर आग रखकर उन्होंने उसके बीच में गढ़ा कर लिया और उसी में अपना सामान रखकर ले जाने लगे।

(चित्र नं० ५) दिखलाकरः—

१—लट्ठे पर कितने आदमी बैठे हैं ?

२—सामान कहाँ रखा है ?

३—बीच-वाला आदमी लट्ठे में किस जगह बैठा है ?

इस प्रकार वे बराबर लट्ठे में सामान रखकर पार आने जाने लगे। कुछ दिनों के बाद जब तरह तरह के हथियार बने तो लट्ठे की जगह लकड़ी के तख्ते जोड़ जोड़कर नाव के रूप में बना लिए गये और अब भी उसी प्रकार बनाते हैं।

पुनरावृत्ति १—यह कैसे ज्ञात हुआ कि लट्ठे पर आदमी नहीं डूब सकते ?

२—लट्ठे को एक किनारे से दूसरे किनारे तक ले जाने की तरकीब कैसे ज्ञात हुई ?

३—लट्ठे पर सामान ले जाने में क्या कठिनाई हुई ?

४—सामान नदी में गिरने से बचाने की क्या तरकीब की गई ?

५—नदी पार करने का कौनसा सरल उपाय है ?

श्यामपटालेखः—१—कोकी नदी में गिर गई।

२—टिल्लू उसे बचाने के लिए पानी में कूद पड़ा।

३—लट्ठा बहते देखकर दोनों उससे चिपट गए।

४—लकड़ी न डूबने से उन्हें नाव बनाने का ज्ञान हुआ।

५—तब वे नाव को हाथ से चलाना छोड़कर डाँड़े से चलाने लगे।

महा मानव-"बापू"

था इन्द्र तुम्हारा वज्र कहाँ ?
थे राम तुम्हारे बाण कहाँ ?
सब जिन्हें देवता कहते हैं
वे मंदिर के पाषाण कहाँ !

क्यों उस गजेन्द्र उद्धारक की
बाहों में पक्षाघात हुआ !
जब मानवता के प्यारे पर
वह वक्ष-विदारक घात हुआ।

निर्व्याज क्षमा के अवयव पर
क्यों वज्र गिराने वाले की
गलकर न गिरीं वे अंगुलियाँ
पिस्तौल चलाने वाले की !

फट गई न धरती की छाती,
फट गया न क्यों आकाश हृदय !
मच गया न भैरव कम्पन से
क्यों पंच-भूत में महा प्रलय !!

जब जगत्-वंद्य उन प्राणों पर, उस पापी की पिस्तौल फिरी;
जब छिन्न हृदय से बापू के, वह प्रथम लहू की बूँद गिरी।

दिनांक	कक्षा	विषय	समय	अध्यापक
६-२-५०	६	भाषा	३५ मिनट	बी० एन० राम

पाठ **महा मानव (बापू)**

उद्देश्य (अ) १—छात्रों की साहित्यिक योग्यता की वृद्धि करना।

२—छात्रों की सूक्ति-भाडार की वृद्धि करना और उनकी कल्पना शक्ति को उकसाना।

३—समयानुकूल वर्णन शैली से परिचय प्राप्त कराना।

(ब) १—छात्रों के हृदय में बापू के प्रति सहानुभूति पैदा करते हुए कविता द्वारा करुण-रस का संचार करना।

पूर्वज्ञान—छात्र बापू के जीवन से परिचित हैं।

शिक्षा सहायक सामग्री—महात्मा गाँधी के मृत्यु-समय का चित्र।

प्रस्तावना १—तीस जनवरी को छुट्टी क्यों होती है ?

(चित्र प्रस्तुत करके)

२—इसचित्र में क्या देखते हो ?

३—पिस्तौल चलानेवाला व्यक्ति कौन है ?

महात्मा गाँधी हमारे देश के विधायक एवं राष्ट्र-पिता थे। यदि हम उन्हें समस्त विश्व का पिता कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि वे देश-विदेश सबसे समान प्रेम रखते थे। ऐसे पिता की मृत्यु से सन्तान की क्या दशा होगी इसे सभी जानते हैं। अतएव बापू की हत्या से मानव समाज का दुःखी होना स्वाभाविक है। महात्मा जी इस युग के महामानव थे। प्राचीन काल से हम मानते आये हैं कि भगवान अपने भक्तों की रक्षा करता है। मीरा, प्रहलाद, गजेन्द्र, सेवरी आदि इसके उदाहरण हैं। किन्तु महात्माजी पर होने वाले उस दुष्ट के प्रहार को रोकने का यत्न भगवान ने नहीं किया। इस घटना से कवि का भावुक हृदय रो पड़ा। उसने अपने मनोभावों को मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है। आज तुम लोग वही कविता पढ़ोगे।

यह पद्यांश काशी के प्रसिद्ध डाक्टर तथा कवि श्रीराजेन्द्र नारायण शर्मा द्वारा बापू की निधन-तिथि के दिन लिखीगई कविता से लिया गया हैं।

मूल पाठ—

शब्द	अर्थ	पद्धति
वज्र-विदारक	हृदय फाड़नेवाला	बिजली बादलों का वक्ष विदीर्ण करती हुई वृक्ष पर आ गिरी। बापू की मृत्यु का वज्र-विदारक सन्देश सुनकर सभी लोग रो पड़े।
निर्व्याज	बिना लाभ	(निः + व्याज) निः = बिना, व्याज = लाभ अर्थात् बिना लाभ।
जगत वन्द्य	संसार में पूजनीय	(जगत + वन्द्य) जगत = संसार + वन्द्य + वन्दना के योग्य = पूजनीय अर्थात् संसार में पूजनीय।
भैरव	(भय + रव) रव = ध्वनि या आवाज	भय उत्पन्न करनेवाली ध्वनि।
पंचभूत	पाँच तत्व	(पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु)

प्रथम आदर्श पाठ—अध्यापक उचित विधि से स्वर पाठ करेगा। छात्र एकाग्रचित्त होकर पद्य का भाव ग्रहण करेंगे और पाठन शैली पर विशेष ध्यान देंगे।

प्रश्न १—जगत-वन्द्य किसे कहा गया है ?

२—महात्माजी को जगत्-वन्द्य क्यों कहा गया है ?

द्वितीय आदर्श पाठ—अध्यापक पुनः आदर्श पाठ करेगा, छात्र कविता का अवलोकन करते हुये ध्यान पूर्वक सुनते रहेंगे।

व्याख्यात्मक प्रश्नः १—इन्द्र का अस्त्र क्या है ?

२—वे वज्र का प्रयोग कब करते थे ?

३—राम के बाणों की क्या विशेषता बताई गई है ?

४—कवि राम के बाण और इन्द्र के वज्र को क्यों पुकारता है ?

५—हिन्दू लोग देवताओं की पूजा क्यों करते हैं ?

६—गजेन्द्र-उद्धारक किसे कहा गया है ?

७—वाहु में पक्षाघात होने पर मनुष्य की क्या दशा होती है ?

८—कवि को किसके वाहों में पक्षाघात होने का सन्देह है ?

९—भगवान् के हाथों में पक्षाघात होने का सन्देह क्यों होता है ?

१०—मानवता से क्या तात्पर्य समझते हो ?

११—मानवता का प्यारा कौन था ?

१२—गाँधी को मानवता का प्यारा क्यों कहा गया है ?

१३—"निर्व्यीज क्षमा का अवयव" किसको कहा गया है ?

१४—गाँधीजी के शरीर पर किसने वज्राघात किया ?

१५–कवि पिस्तौल चलानेवाले का क्या अनिष्ट चाहता है ?

१६–पिस्तौल के प्रहार से बापू की क्या दशा हुई ?

१७–जब बापू के हृदय से खून की प्रथम बूँद गिरी उसी समय कवि क्या चाहता है ?

१८–कवि ने बापू और धरती की छाती फटने को क्यों कहा ?

१९–कवि भैरव कम्पन से क्या परिणाम चाहता है ?

२०–महा प्रलय में क्या होता है ?

व्यक्त पाठ—सर्व प्रथम एक योग्य छात्र द्वारा तत्पश्चात् सामान्य छात्रों द्वारा व्यक्त पाठ कराया जायगा।

तृतीय आदर्श पाठ—भावों की गहरी अनुभूति के लिये अध्यापक तृतीय आदर्श पाठ करेगा।

श्यामपाट लेखः—कठिन शब्दों का अर्थ लड़कों द्वारा निकलवा कर श्याम पाट पर अंकित किया जायगा।

रण–प्रयाण

कोलाहल पर कोलाहल, सुन शस्त्रों की झनकार प्रबल,
मेवाड़-केसरी गरज उठा, सुनकर अरि की ललकार प्रबल।
हर एक लिङ्ग को माथा नवा, लोहा लेने चल पड़ा वीर,
चेतक का चंचल वेग देख, था महा-महा लज्जित समीर।
लड़-लड़ कर अखिल महीतल को, शोणित से भर देनेवाली,
तलवार बीर की निकल पड़ी; अरि-कण्ठ कतर देनेवाली।

राणा का ओज-भरा आनन, सूरज समान तमतमा उठा,
बन महा काल का महा काल, भीषण भाला दमदमा उठा।

तिथि	कक्षा	विषय	समय	शिक्षक
८-३-५१	६	भाषा (गद्य)	३० मि०	वाइ. पी. ओझा

पाठ रण–प्रयाण

सा० उद्देश्य—(अ) बच्चों को कविता के भावों तथा भाषा-सौन्दर्य का आनन्द लेने की योग्यता प्रदान करना।

(ब) सुपठन द्वारा कविता के भावों को समझने की क्षमता उत्पन्न करना।

(स) उनके मनोभावों को जागृत करना तथा कविता के प्रसंग से उनकी कल्पना-शक्ति की वृद्धि करना।

मु० उद्देश्य—(द) 'हल्दी-घाटी' नामक काव्य के उक्त पद्यांश द्वारा साहित्य सौन्दर्य तथा वीर-रस की अनुभूति का अवसर देना।

पूर्वज्ञान—बच्चे महाराणा प्रताप के विषय में जानकारी रखते हैं।

समन्वय—सामाजिक वातावरण से।

प्रस्तावना—(१) किस मुगल-सम्राट से राणाप्रताप को युद्ध करना पड़ा था?

(२) अकबर तथा राणा का युद्ध किस स्थान पर हुआ था?

उसी हल्दी-घाटी के युद्ध के विषय में बनारस जिले के निवासी प्रसिद्ध कवि पं० श्यामनारायण पाण्डेय ने 'हल्दी घाटी' नामक सुन्दर काव्य की रचना की है। उसमें वीर-शिरोमणि महाराणा

प्रताप की वीरता का अत्यन्त ओजस्वी वर्णन है। आज हम लोग राणा के रण के निमित्त प्रयाण करने के समय की कुछ पंक्तियाँ पढ़ेंगे।

मूलपाठ—निम्नांकित कठिन शब्दों को श्याम पाट पर लिखकर विभिन्न पद्धतियों द्वारा उनके अर्थ बताये जायँगे।

शब्द	अर्थ	पद्धति	
केसरी	– सिंह	(वाक्य-प्रयोग)	'केसरी' जंगल के जानवरों का राजा कहा जाता है।
लोहा लेना	– युद्ध करना	(" ")	स्वतन्त्रता के लिए महाराणा को अकबर से 'लोहा लेना' पड़ा।
समीर	– हवा	(सरल पर्याय के प्रयोग द्वारा)	समीर जब बहुत प्रचण्ड रूप से चलने लगता है तब उसे आँधी कहते हैं।

अखिल – सम्पूर्ण (अ = नहीं + खिल = खण्ड) खण्ड द्वारा। पुनः प्रयोग द्वारा—महात्मा गाँधी की मृत्यु से अखिल विश्व में शोक छा गया।

शोणित	– रक्त	(वाक्य-प्रयोग)	राणा की तलवार ने युद्ध के मैदान में 'शोणित' की नदी बहा दी।

प्रथम आदर्श पाठ—विराम स्थलों पर ध्यान देते हुए, उचित अवधारण और स्पष्टोच्चारण के साथ अध्यापक कविता का आदर्श पाठ करेगा। विद्यार्थी ध्यान पूर्वक सुनते रहेंगे।

भावग्रहणात्मक प्रश्न—(१) यह कविता किसके विषय में लिखी गई है ?

(२) इस पद्य में किस समय की घटना का वर्णन है ?

द्वि० आदर्श पाठ—अध्यापक बालकों में लिखित कविता का वितरण करके द्वि० आदर्शपाठ करेगा। बालक कविता देखते रहेंगे।

व्याख्यात्मक प्रश्न १—मेवाड़ केसरी किसको कहा गया है ?

२—राणाप्रताप को केसरी क्यों कहते हैं

३—मेवाड़ केसरी के गरज उठने का क्या कारण था ?

४—शस्त्र किसे कहते हैं ?

५—अस्त्र और शस्त्र में क्या अन्तर है ?

६—माथ नवाने का क्या अर्थ है ?

७—उस वीर ने किसे माथ नवाया ?

८—वह एकलिंग को माथ नवाकर कहाँ चल पड़ा ?

९—चेतक कौन था ?

१०—उसका वेग देखकर कौन लज्जित हुआ ?

११—कौन गरज उठी ?

१२—वह तलवार क्या कर देनेवाली थी ?

१३—सूरज समान कौन तमतमा उठा ?

१४—राणा का आनन कैसा था ?

१५—'ओज भरा आनन सूरज समान तमतमा उठा' का क्या आशय है ?

१६–कौन दमदमा उठा ?

१७–भाला क्या बन गया ?

१८–"महाकाल का महाकाल" से क्या समझते हो ?

१९–इस कविता के पढ़ने से तुम्हारे हृदय में कैसा भाव उत्पन्न होता है ?

व्यक्त पाठ—प्रथमतः एक योग्य छात्र द्वारा तत्पश्चात सामान्य छात्रों द्वारा व्यक्त पाठ कराया जायगा ।

तृतीय आदर्श पाठ—बालकों में गहिरी रसानुभूति पैदा करने के लिए तृतीय बार आदर्श पाठ किया जायगा ।

श्यामपट लेख—मूलपाठ में आये हुए कठिन शब्द तथा उसके अर्थ श्यामपटांकित किये जायेंगे ।

गृह-कार्य—इस कविता को कण्ठ कर लेने तथा ऐसी ही दो अन्य कविताएँ संकलित करने का आदेश दिया जायगा ।

तिथि	कक्षा	विषय	समय	अध्यापक नाम
–३–५१	७	संस्कृतम्	घण्टार्द्धम्	नामवरमणि-त्रिपाठी

शीर्षकम् "प्रातःकृत्यानि" (वार्तालापः)

सामान्योद्देश्याः—

(१) विद्यार्थिषु संस्कृतवाक्यानां वाचनलेखनयोः शक्तेरुत्पादनम् ।

(२) संस्कृतभाषायां स्वाभिप्रायप्रकटनशक्तेरुत्पादनम् ।

(३) संस्कृतोक्तविषयाणां बोधनशक्तेरुत्पादनम् ।

विशेषोद्देश्यौ—

(१) संस्कृतभाषायां वार्तालापोपदेशः ।

(२) प्रातःकृत्यानाम् परिचयः ।

पूर्वज्ञानम्ः—

(१) छात्राः कतिपयानां दैनिकजीवनोपयोगिनां वस्तूनां विषये वार्तालापकरणे शिक्षिताः ।

(२) हिन्दीभाषायां विशेषतः प्रयुक्तानां कतिपयसंस्कृतशब्दानामपि ज्ञानमस्ति ।

वस्तूपस्थापनम्ः—

छात्राणां समक्षं प्रातःकृत्यानां चित्रस्य प्रदर्शनम् ।

मूलपाठम्—

अस्मिन् चित्रेः—

(१) अयं कः ?
(२) कुत्र सूर्यः ?
(३) इयम् का ?
(४) कुत्र नदी ?
(५) इदम् किम् ?
(६) इयम् का ?
(७) अयम् कः ?
(८) इयम् का ?
(९) अयम् कः ?
(१०) कुत्र धौतवस्त्रम् ?
(११) इदम् किम् ?
(१२) कुत्र जलपात्रम् ?
(१३) इदम् किम् ?
(१४) कुत्र दन्तधावनम् ?
(१५) इदम् किम ?
(१६) का दन्तधावनम करोति ?

(१७) बालिका किं करोति ?
(१८) कः स्नानं करोति ?
(१९) पुरुषः किं करोति ?
(२०) इदम् कस्य धौतवस्त्रम् ?
(२१) का मन्दिरम् गच्छति ?
(२२) स्त्री किं करोति ?
(२३) स्त्रियः हस्ते किम् अस्ति ?
(२४) कः प्राणायामं करोति ?
(२५) पुरुषः किं करोति ?
(२६) कः व्यायामं करोति ?
(२७) बालकः किं करोति ?

श्यामपटकार्यम्ः—

अस्मिन् चित्रेः—
(१) बालिका दन्तधावनम् करोति ।
(२) पुरुषः स्नानं करोति ।
(३) स्त्री मन्दिरं गच्छति ।
(४) पुरुषः प्राणायामं करोति ।
(५) बालकः व्यायामं करोति ।

निर्देशः—

श्यागपटाङ्कितानां वाक्यानां लेखनाय छात्रेभ्य आदेशो भविष्यति ।
